खंड VIII
स्वतंत्रता-पश्चात् इतिहास लेखन

समय रेखा

मार्क्सवादी इतिहास लेखन

आर. पी. दत्त

डी. डी. कोसाम्बी

बिपन चन्द्र

इरफ़ान हबीब

सबाल्टर्न इतिहास लेखन

रणजीत गुहा

पार्था चटर्जी

ज्ञानेन्द्र पांडे

दीपेश चक्रबर्ती

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

ट्रिनिदाद एवं टोबैगो में भारतीय अनुबंधित (गिरमिटिया) श्रमिक, *c.*1890-1896

निर्माताः मोरिन, फेलिक्स

स्रोतः https://www.flickr.com/photos/smu_cul_digitalcollections/13227675614/

साभारः एस एम यू सैन्ट्रल यूनिवर्सिटी लाइब्रेरीज़

स्रोतः https://commons.wikimedia.org/wiki/File:East_Indian_Women,_Men_and_Children_(13227675614).jpg

इकाई 19 मार्क्सवादी तथा सबाल्टर्न*

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 मार्क्सवादी इतिहासलेखन के प्रमुख विचार
19.3 कुछ महत्वपूर्ण मार्क्सवादी इतिहासकार
19.3.1 आर. पी. दत्त
19.3.2 डी. डी. कोसांबी
19.3.3 बिपन चंद्र
19.3.4 इरफ़ान हबीब
19.4 सबाल्टर्न इतिहासलेखन की प्रमुख विशेषताएँ
19.5 कुछ महत्वपूर्ण सबाल्टर्न इतिहासकार
19.5.1 रणजीत गुहा
19.5.2 पार्था चटर्जी
19.5.3 ज्ञानेंद्र पांडे
19.5.4 दीपेश चक्रवर्ती
19.6 सारांश
19.7 बोध प्रश्नों के उत्तर
19.8 संदर्भ ग्रंथ
19.9 शैक्षणिक वीडियो

19.0 उद्देश्य

इस इकाई में हमारा मुख्य उद्देश्य आप को मार्क्सवादी और सबाल्टर्न इतिहासलेखन के प्रमुख विचारों से परिचित कराना है, इतिहासलेखन की इन दो महत्वपूर्ण धाराओं से संबंध रखने वाले कुछ महत्वपूर्ण इतिहासकारों की कृतियों का संदर्भ देने के साथ। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जानेंगेः

- भारत में मार्क्सवादी इतिहासलेखन के आधारभूत विचारों के विषय में,
- कुछ प्रमुख भारतीय मार्क्सवादी इतिहासकारों की कृतियों तथा उनके विचारों के विषय में,
- सबाल्टर्न इतिहासलेखन की प्रमुख विशेषताओं के विषय में, और
- इतिहास और इतिहासकारों की सबाल्टर्न विचारधारा से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण इतिहासकारों के मतों के विषय में।

19.1 प्रस्तावना

भारत में मार्क्सवादी इतिहासलेखन का विकास प्राथमिक रूप से 1940 के दशक से शुरू हुआ। 1960 के दशक से लेकर 1990 के दशक तक इसकी भारतीय इतिहासलेखन के क्षेत्र में प्रभावशाली उपस्थिति रही है। बहुत से भारतीय इतिहासकार किसी न किसी रूप में इसके प्रभाव में आए। यहाँ हम इस प्रवृत्ति से संबंधित प्रमुख विचारों और कुछ महत्वपूर्ण इतिहासकारों की चर्चा करेंगे।

सबाल्टर्न इतिहासलेखन उस प्रवृत्ति की ओर इशारा करता है जिसकी शुरुआत सबाल्टर्न अध्ययन

* प्रो. शशि भूषण उपाध्याय, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

तथा इससे संबंधित इतिहासकारों के साथ हुई थी। 1980 के दशक के आरंभ में शुरू हुआ सबाल्टर्न अध्ययन कई संपादकों के अधीन प्रकाशित हुए लेखों की एक श्रृंखला है जिसकी शुरुआत रणजीत गुहा के साथ होती है जिन्होंने पहले छः संस्करणों को संपादित किया था। इस इकाई में हम इस प्रवृत्ति के विकास का वर्णन करेंगे तथा इसमें योगदान देने वाले कुछ प्रमुख इतिहासकारों को भी ध्यान में रखेंगे जिन्होंने कई पुस्तकें भी प्रकाशित की थीं।

19.2 मार्क्सवादी इतिहासलेखन के प्रमुख विचार

भारतीय इतिहास के अधिकतर ज्ञानक्षेत्रों में मार्क्सवादी इतिहासकारों की भूमिका अत्यंत महत्व की रही है, चाहे हम भारतीय इतिहास के विभिन्न कालों पर नज़र डालें, जैसे प्राचीन, मध्यकाल या आधुनिक काल, या विभिन्न प्रकार के विषयों पर विचार करें, जैसे आर्थिक इतिहास, राष्ट्रवाद, राजनीतिक इतिहास या सामाजिक इतिहास। मार्क्सवादी इतिहासकारों ने इन सभी में विपुल योगदान दिया है। वस्तुतः कुछ अध्ययन-क्षेत्रों में उनकी कृतियों ने इतिहास लेखन की धारा को नई दिशा प्रदान की की है। यद्यपि मार्क्सवादी इतिहासकारों के बीच कई प्रकार की असहमतियाँ रही हैं तब भी कुछ निश्चित प्रकार के समान तत्व रहे हैं जो इस प्रकार हैं:

1) भले ही मार्क्सवादी इतिहासकारों द्वारा ठोस स्रोतों तथा अनुभवजन्य (empirical) सामग्री पर कार्य किया गया है, उन्होंने अपनी सामग्री के विश्लेषण और प्रस्तुतीकरण के लिए एक व्यापक दृष्टिकोण को अपनाया है।

2) यह व्यापक दृष्टिकोण सामान्यतः उत्पादन की पद्धतियों और विभिन्न वर्गों के बीच संघर्ष को ध्यान में रखता है।

3) इस प्रकार व्यापक सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं, जैसे सामंतवाद, उपनिवेशवाद तथा पूँजीवाद, के अध्ययन को महत्व दिया गया।

4) मार्क्सवादी इतिहासलेखन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों की व्यक्तिगत स्वरूपों/प्रतिमानों में व्याख्या नहीं करता है बल्कि सामाजिक-आर्थिक तंत्रों और वर्ग-संघर्षों के संदर्भ में उन्हें रेखांकित करता है। हम यह कह सकते हैं कि मार्क्सवादी इतिहास लेखन सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन के बारे में 'महान् व्यक्ति' (great man) के सिद्धांत को खारिज करता है।

5) राजाओं और वंशों के इतिहास को सामाजिक और आर्थिक संरचनाओं के इतिहास तथा आमजन के इतिहास द्वारा प्रतिस्थापित किया गया। परिणामतः राजनीतिक इतिहास के स्थान पर सामाजिक और आर्थिक इतिहास के अध्ययन पर अधिक ध्यान दिया गया।

6) प्रविधि के स्तर पर मार्क्सवादी इतिहासकारों ने अंतःविषय दृष्टिकोण व अभिगम (approach) को अपनाया जो पुरालेखागारों पर केंद्रित शोध को पुरातत्व विज्ञान, भाषा-विज्ञान, मानवविज्ञान, मुद्राशास्त्र, इत्यादि के साथ मिला कर देखता है।

7) मार्क्सवादी इतिहासलेखन में विश्लेषण, व्याख्या, कारणता/कार्य-करण सिद्धांत (causation) तथा विवेचन को सामान्य विवरण या वर्णन की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता है।

19.3 कुछ महत्वपूर्ण मार्क्सवादी इतिहासकार

इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए की मार्क्सवादी इतिहासलेखन भारतीय इतिहासलेखन की सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति रही है, इससे संबंध रखने वाले इतिहासकारों की संख्या भी उतनी ही अधिक रही है। लेकिन, इस खंड में हम अपनी परिचर्चा को केवल चार इतिहासकारों तक सीमित रखेंगे।

19.3.1 आर. पी. दत्त

आर.पी. दत्त को भारत में मार्क्सवादी इतिहासलेखन की शुरुआत करने वाला कहा जा सकता है। उनकी पुस्तक *इंडिया टुडे*, जिसे मूलतः 1940 में लिखा गया था, उनके द्वारा भारत में ब्रिटिश शासन और भारतीय लोगों के संघर्ष, जिसमें राष्ट्रीय आंदोलन तथा कामगार वर्गों के आंदोलन, दोनों, शामिल थे, के विकास पर मार्क्सवादी विचार व दृष्टि से स्वतंत्रता की पूर्व-संध्या तक किया गया सर्वेक्षण है,

जैसा कि इसे उस समय देखा और समझा जाता था। इसमें औपनिवेशिक शासन के अधीन भारतीय अर्थव्यवस्था, राजनीति और समाज के विभिन्न पहलुओं पर व्यापक विचार किया गया है। यह पुस्तक मार्क्सवादी विश्लेषण का उपयोग औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में हुए परिवर्तनों, राष्ट्रवादी आंदोलन, संप्रदायवाद तथा कृषक वर्ग की समस्याओं को समझने में करती है।

भारत में औपनिवेशिक शासन के आर्थिक प्रभाव के विषय पर स्वयं मार्क्स की टिप्पणियों का अनुसरण करते हुए दत्त ने अपनी बात को उपनिवेशवाद को 'विध्वंसक' और 'निर्माणकारी', दोनों, प्रकार की शक्ति माना है। लेकिन, दत्त ने इस बात पर बल दिया है कि उपनिवेशवाद की निर्माणकारी भूमिका बहुत सीमित थी और बहुत जल्द ही यह ध्वंस में परिवर्तित हो गईः

> आज भारत में साम्राज्यवादी शासन की संपूर्ण विश्व में पूँजीवाद की तरह इसकी वस्तुनिष्ठ रूप से प्रगतिवादी और निर्माणकारी भूमिका समाप्त हो चुकी है जो मुक्त व्यापार वाले पूँजीवाद के काल के समानांतर है। और भारत में साम्राज्यवादी शासन सर्वाधिक शक्तिशाली प्रतिक्रियावादी शक्ति बन चुका है जिसने अन्य सभी प्रकार की भारतीय प्रतिक्रियावादी शक्तियों को और मज़बूत किया है।

दत्त प्रत्यक्ष तौर पर उपनिवेशवाद तथा पूँजीवाद को देश की गरीबी के लिए ज़िम्मेदार ठहराते हैं और औपनिवेशिक लूट की उस भूमिका पर बल देते हैं जिसने ब्रिटेन के पूँजीवादी विकास के लिए वित्त उपलब्ध करवाया था। आर्थिक कसौटी का उपयोग करते हुए वे भारत में साम्राज्यवादी शासन को तीन चरणों में बाँटते हैं। यह एक ऐसा काल-विभाजन था जो अब सामान्य रूप से स्वीकारा जाता है, विशेषकर मार्क्सवादी इतिहासकारों के बीच। इसका पहला चरण वाणिज्यिक पूँजी का था जिसका प्रतिनिधित्व ईस्ट इंडिया कंपनी करती थी और जिसकी व्यवस्था का सामान्य चरित्र 18वीं शताब्दी के अंत तक जारी रहा था। दूसरे चरण में औद्योगिक पूँजी का वर्चस्व था जिसने 19वीं शताब्दी में भारत के शोषण के नए आधार की स्थापना की। तीसरे चरण में वित्तीय पूँजी महत्वपूर्ण शक्ति बन गई जो 19वीं शताब्दी के आखिरी वर्षों में शुरू हुई और 20वीं शताब्दी में परिपक्व हुई।

वाणिज्यवादी पूँजीवाद के चरण में ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीय व्यापार पर एकाधिकारवादी नियंत्रण का उपभोग किया। 1757 से बढ़ते जा रहे अधिक्षेत्रीय नियंत्रण के कारण यह और सरल हो गया था। इसके अलावा कंपनी के अधिकारियों द्वारा अपने निजी सामर्थ्य के अंतर्गत औपनिवेशिक सरकार द्वारा प्रत्यक्ष तौर पर भारतीय संपत्ति की लूट की गई।

इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति के साथ अंग्रेज़ी उद्योगों के उत्पादों के लिए स्वतंत्र बाजारों की खोज होने लगी। अब भारत को 'संपूर्ण विश्व के लिए सूती पण्यवस्तुओं के निर्यातक से सूती पण्यवस्तुओं के आयातक' के रूप में रूपांतरित कर दिया गया। इस प्रकार ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकारवादी नियंत्रण को समाप्त होना था और यह 1813 के बाद विभिन्न चरणों में हुआ और जिसने 1858 में पूर्णता पाई जब भारत का शासन ब्रिटिश ताज को हस्तांतरित कर दिया गया।

अंततः प्रथम विश्व युद्ध के बाद वित्तीय पूँजीवाद का नया चरण शुरू हुआ। अब भारत में प्रत्यक्ष पूँजी निवेश पर बल दिया जा रहा था। यद्यपि भारत से 'भेंट प्राप्त करने' (tribute) और भारत को ब्रिटिश वस्तुओं के बाज़ार के रूप में देखने के पुराने तरीके अब भी चलते रहे।

दत्त ने भारतीय राष्ट्रवाद पर भी मार्क्सवादी विश्लेषण का प्रयोग किया। 1857 के विद्रोह पर उनका विचार था कि यह मूलभूत रूप से 'पुरानी रूढ़िवादी और सामंतीय शक्तियों तथा बेदखल कर दिए गए राजाओं का विद्रोह' था। इस प्रकार वे भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की शुरुआत 19वीं शताब्दी के आखिरी उत्तरार्द्ध से ही मानते हैं।

उनके अनुसार इस आंदोलन का प्राथमिक संगठन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (Indian National Congress) था जिसकी स्थापना 1885 में हुई थी। दत्त के अनुसार यद्यपि कांग्रेस भारतीय मध्यवर्ग की शुरुआती गतिविधियों से उदित हुई थी, इसे प्रभावशाली रूप से ब्रिटिश अधिकारियों की पहल पर एक सुरक्षा-यंत्र की तरह अस्तित्व में लाया गया था। दत्त ए. ओ. ह्यूम की भूमिका तथा होने वाले विद्रोह के प्रति उनकी सतर्कता के विषय में विस्तार से लिखते हैं। लेकिन, लोकप्रिय राष्ट्रवादी भावनाओं के दबाव में यह जल्द ही अपने आधिकारिक और निष्ठावादी मूल से बाहर निकल गई। उपनिवेश-विरोधी भावनाओं और आम जनता की गतिविधियों ने कांग्रेस को उपनिवेशवाद के विरुद्ध खड़े होने तथा जनता के आंदोलनों में नेतृत्व की भूमिका ग्रहण करने हेतु प्रेरित किया।

दत्त द्वारा कांग्रेस और राष्ट्रवादी आंदोलन के वर्गीय (class-based) आधार में समय के साथ होने वाले परिवर्तन के आधार पर विश्लेषण किया गया। उनके विश्लेषण में भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन अपने प्रारंभिक चरण में उच्च पूँजीपति वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करता था जिसमें 'भूमिपतियों में प्रगतिवादी, नए औद्योगिक पूँजीपति तथा सुसंपन्न बुद्धिजीवी शामिल थे'। यह भारतीय राष्ट्रवाद तथा कांग्रेस का उदारवादी चरण था। दूसरे चरण में छोटे शहरी पूँजीपति वर्ग ने स्वयं को व्यक्त किया जैसा कि भारतीय राष्ट्रवाद के उग्रवादी चरण से स्पष्ट होता है। तीसरे चरण में भारतीय कृषक वर्ग और कामगार वर्ग ने उभरते हुए आंदोलन में अपनी उपस्थिति को महत्वपूर्ण बना दिया था।

लेकिन, कांग्रेस का नेतृत्व प्रभावी रूप से संपत्ति-धारी वर्ग के हाथ में ही रहा जिन्होंने राष्ट्रवादी आंदोलन की बढ़ती उग्रता को नियंत्रण में रखा और सफलतापूर्वक इसे धनी वर्गों के लिए खतरा बनने से दूर रखा। दत्त विशेष रूप से गाँधी जी के प्रति आलोचक रवैया रखते हैं जिन्हें वह कांग्रेस के भीतर एक प्रमुख रूढ़िवादी प्रभाव मानते थे। उन्होंने गाँधी को 'क्रांति का योनाह तथा अखंड आपदाओं का नायक ... पूँजीपति वर्ग का प्रतिनिधि' कहा है क्योंकि वे 'क्रांतिकारी लहरों के बीच जनता के आंदोलन के नेतृत्व को शांत बनाने' तथा इसे सीमाओं के भीतर ही रखने के साधन ढूँढने की कोशिश करते थे। इस प्रकार असहयोग (Non Cooperation) आंदोलन को वापस ले लिया गया क्योंकि यह भय था कि जनता संपन्न वर्गों का खेल ना बिगाड़ दे। इसी प्रकार 1932 में सविनय अवज्ञा (Civil Disobedience) आंदोलन को भी अचानक तथा रहस्यमय ढंग से वापस ले लिया गया, उस क्षण जब यह अपनी ऊँचाई पर था। दत्त ने इसे कांग्रेस का दोहरा चरित्र कहा हैः एक ओर तो कांग्रेस जनता के आंदोलन के नेतृत्व की भूमिका ग्रहण किए हुए थी वहीं दूसरी ओर इसने औपनिवेशिक सरकार के साथ सहयोग करते हुए संपत्तिशाली वर्गों की रक्षा हेतु बढ़ती हुई आक्रामकता को सीमित करने तथा कभी-कभी समाप्त करने का प्रयास भी किया।

औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था तथा राष्ट्रवादी आंदोलन का दत्त द्वारा किया गया यह विश्लेषण आने वाले काफ़ी लंबे समय तक भारतीय मार्क्सवादी इतिहासलेखन के लिए आधारभूत वाक्यों की तरह सिद्ध हुआ और इसने बाद के कई मार्क्सवादी इतिहासकारों को विभिन्न रूपों में प्रभावित किया।

19.3.2 डी. डी. कोसांबी

डी. डी. कोसांबी को अग्रणी मार्क्सवादी इतिहासकार माना जाता है, विशेष रूप से प्राचीन भारतीय इतिहास के संबंध में। रोमिला थापर का यह तर्क है कि कोसांबी ने भारतीय इतिहासलेखन के क्षेत्र में वास्तव में एक 'क्रांतिकारी बदलाव' (paradigm shift) पैदा किया। उनके अनुसार इस प्रकार के क्रांतिकारी परिवर्तन इससे पहले जेम्स मिल तथा विंसेंट स्मिथ द्वारा प्रस्तुत हुए थे। जहाँ मिल ने भारतीय इतिहास को तीन भागों – हिंदू, मुस्लिम और ब्रिटिश – में बाँटा था जिसे वह सभ्यता-संबंधी विभाजन समझता था, विंसेंट स्मिथ ने मुख्यतः कालक्रम के साथ-साथ वंश-केंद्रित इतिहास पर बल दिया। जहाँ मिल ने भारतीयों, विशेषकर हिंदू सभ्यता, की कड़े शब्दों में आलोचना की, स्मिथ ने सामान्यतः अपने को सही और ग़लत के निर्णय से दूर रखा तथा कालक्रम से बंधे हुए वंशानुगत आख्यानों तक स्वयं को सीमित रखा।

कोसांबी की इतिहास की दृष्टि बिल्कुल ही भिन्न थी। उन्होंने मिल के धार्मिक काल-विभाजन और स्मिथ के वंशानुगत कालक्रम का अनुसरण करने वाले विवरण को पूर्णतः नकार दिया। वह राजनीतिक इतिहास को सतही मानते थे। इसके बजाय उन्होंने इस पर बल दिया कि 'समाज को उत्पादन के बंधन आपस में एकजुट रखते हैं'। इस प्रकार उनके लिए इतिहास 'कालक्रम की व्यवस्था में उत्पादन की पद्धतियों और संबंधों में होने वाले उत्तरोत्तर विकास की प्रस्तुति है'। यह, उनके अनुसार, एकमात्र ज्ञात परिभाषा है जो लेखन-पूर्व समाजों, जिन्हें सामान्यतः प्राक्-इतिहास कहा जाता है, के इतिहास पर उचित व तर्कसंगत विचार करती है। इसके अतिरिक्त वे कहते हैं कि इतिहास को वर्गों के बीच संघर्ष की रूपरेखा में देखना चाहिए। 'एक वर्गीकृत समाज में इतिहास के समुचित अध्ययन का अर्थ उच्च स्थान पर आसीन वर्गों के हितों तथा शेष जनता के हितों के बीच अंतरों के विश्लेषण से है।'

वह कहते हैं कि इतिहास के प्रति यह दृष्टिकोण 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद (dialectical materialism) है जिसे इसके प्रतिपादक के नाम से मार्क्सवाद भी कहा जाता है'। लेकिन, कोसांबी मार्क्सवाद के अनुप्रयोग में काफ़ी लचीला रुख रखते हैं। उन्होंने इस पर बल दिया है कि मार्क्सवाद आर्थिक

निर्धारणवाद, जैसा कि इसके विरोधी इसे अक्सर समझ लेते हैं, से कहीं अधिक है। वह मूलतः मार्क्सवाद को एक ऐसी पद्धति के रूप में देखते हैं जिसे भारतीय इतिहास तथा समाज के अध्ययन में लाभकारी ढंग से उपयोग में लाया जा सकता है। उन्होंने भारतीय इतिहास तथा समाज के प्राचीन समय से ही विश्लेषण के लिए तुलनात्मक पद्धतियों और अंतःविषय (interdisciplinary) दृष्टिकोण को अपनाया था। उनके शोध के परिणाम उनकी चार प्रमुख पुस्तकों में प्रकाशित हुए थेः *एन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ़ इंडियन हिस्ट्री* (1956), *एग्ज़ासपरेटिंग एसेज़ः एक्सरसाइज़ इन द डायलेक्टिकल मेथड* (1957), *मिथ एंड रियैलिटीः स्टडीज़ इन द फॉर्मेशन ऑफ़ इंडियन कल्चर* (1962) और *द कल्चर एंड सिविलाइज़ेशन ऑफ़ इंडिया इन हिस्टॉरिकल आउटलाइन* (1965)।

कोसांबी का गैर-हठधर्मी (non-dogmatic) दृष्टिकोण व कार्यप्रणाली उनके द्वारा दो आधारभूत मार्क्सवादी अवधारणाओं – एशियाई उत्पादन पद्धति (Asiatic Mode of Production) तथा दासता (slavery) – को नकारने में प्रकट होता है। उन्होंने भारतीय परिप्रेक्ष्य में सामंतवाद की मार्क्सवादी अवधारणा को तो स्वीकार किया किंतु भारत में अर्द्धदासत्व के अस्तित्व को नकार दिया। इसके बजाय उनका विचार था कि 'भारतीय समाज को जनजाति से जाति की ओर संक्रमण के तौर पर देखा जाना चाहिए'। उनके अनुसार, 'भारतीय इतिहास की संपूर्ण यात्रा जनजातीय तत्वों के सामान्य समाज में मिश्रण को दर्शाती है'। यह 'भारतीय समाज के जाति के रूप में सर्वाधिक विशिष्ट लक्षण की व्याख्या भी करती है'।

लेकिन, साहित्य तथा संस्कृति के विषय में कोसांबी ने आधार (base) तथा अधिसंरचना (superstructure) के परंपरागत मार्क्सवादी दृष्टिकोण को अपनाया था। उनके अनुसार सांस्कृतिक और साहित्यिक सृजन को प्रत्यक्ष रूप से किसी विशेष काल की आर्थिक संरचनाओं से संबंधित किया जा सकता है। इस प्रकार वह तर्क देते हैं कि *भगवद् गीता* की शिक्षाओं की केवल उस सामंतीय समाज की एक रचना के रूप में व्याख्या की जा सकती है जिसमें इसकी उत्पत्ति हुई थी। उनके लिए *गीता* सामंतीय शासक वर्गों की विचारधारा की शिक्षा देती है जिसमें 'निजी निष्ठा के ऐसे सिलसिले पर बल दिया गया है जो अनुचरों को मुखिया से, काश्तकार को भूस्वामी से तथा सामंत को राजा से बांधती है'। कोसांबी, इस प्रकार, भक्ति आंदोलन को सामंतीय विचारधारा का उत्पाद मानते हैं जिसमें ईश्वर के प्रति निष्ठा का उपदेश दिया गया है। सांसारिक अर्थों में इसका अभिप्राय राजाओं और शासकों के प्रति निष्ठा तथा भक्ति से है (उपाध्याय में उद्धृत, 2016ः 489-94)।

19.3.3 बिपन चंद्र

बिपन चंद्र आधुनिक भारत और भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन के एक प्रमुख इतिहासकार हैं। वह आर. पी. दत्त के राष्ट्रवादी आंदोलन पर विचार से असहमति रखते हैं तथा उन्होंने दत्त के विचारों की महत्वपूर्ण आलोचना प्रस्तुत की। अपनी शुरुआती पुस्तक *द राइज़ एंड ग्रोथ ऑफ़ इकॉनॉमिक नेशनलिज़्म इन इंडिया* (1966) में बिपिन चंद्र ने यह तर्क दिया है कि विचारों को आर्थिक आधार का प्रत्यक्ष प्रतिबिंब नहीं समझना चाहिए। उनके मत में विचारों की एक निश्चित स्वायत्तता होती है और वे किसी क्रिया या परिवर्तन के वाहक बन सकते हैं। इसके अतिरिक्त किसी समाज में बौद्धिक जन उस वर्ग के हितों से सापेक्षिक स्वतंत्रता रखते हैं जिसमें उनका जन्म हुआ होता है। उन्होंने इस पर बल दिया है कि बुद्धिजीवियों के कृत्यों की मात्र उनकी उत्पत्ति के वर्ग के आधार पर व्याख्या करना 'निपट क्रूर यांत्रिक भौतिकवाद' होगा। इस प्रकार चंद्र के अनुसार बुद्धिजीवियों के रूप में भारतीय राष्ट्रवादी नेता उन विशेष वर्गों के संकीर्ण हितों से ऊपर थे जिनमें उनका जन्म हुआ था। लेकिन, यह सत्य है कि वे निश्चित वर्गीय हितों का प्रतिनिधित्व भी करते थे किंतु यह उनके जन्म से संबंधित वर्गों के हित नहीं थे। उन्होंने वर्गीय हितों का प्रतिनिधित्व विचारधारात्मक स्तर पर किया था न कि निजी लाभ के लिए। वह तर्क देते हैंः

> दुनिया भर के तथा समस्त इतिहास के बुद्धिजीवियों के समान श्रेष्ठ और ईमानदार भारतीय विचारक तथा बुद्धिजीवी भी 19वीं शताब्दी के दार्शनिक थे तथा किसी दल या वर्ग के नुमाइंदे नहीं थे। यह सत्य है कि वह वर्ग तथा समूह से ऊपर नहीं थे और व्यवहारतः किसी ठोस वर्ग या समूह के हितों का प्रतिनिधित्व करते थे किंतु जब वे किसी वर्ग या समूह के हितों का प्रतिनिधित्व करते थे वे ऐसा विचारधारा के प्रिज़्म (prism) के माध्यम से करते थे न कि प्रत्यक्ष रूप में उस वर्ग या समूह के सदस्यों या आज्ञाकारी सेवकों के रूप में।

इस प्रकार आरंभिक राष्ट्रवादी नेताओं के आर्थिक विचार तथाकथित नरमपंथियों/उदारवादियों (moderates) और अतिवादियों ('extremists'), दोनों, के विचारधारात्मक रूप से पूँजीवादी प्रवृत्तियों को प्रदर्शित करते थे। इसका मतलब यह है कि 'आर्थिक जीवन के लगभग प्रत्येक पहलू में वे सामान्य रूप से पूँजीवादी संवृद्धि तथा विशेष रूप से औद्योगिक पूँजीवादियों के हितों का पोषण करते थे'। लेकिन, इसका मतलब यह नहीं है कि वे पूँजीवादियों के निजी हितों के पक्ष में काम कर रहे थे बल्कि मात्र यह है कि एक सामान्य स्तर पर वे भारत का विकास पूँजीवादी ढंग से होने की आकांक्षा रखते थे। उनका यह मानना था कि 'पूँजीवादी ढंग का औद्योगिक विकास ही आर्थिक क्षेत्र में देश के पुनर्निर्माण का एकमात्र तरीका है, या दूसरे शब्दों में, उस समय के औद्योगिक पूँजीवादी वर्गों के हित वस्तुनिष्ठ रुप से प्रमुख राष्ट्रीय हित के साथ सहवर्ती थे'।

यह भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन का एक महत्वपूर्ण और भिन्न विवेचन है। उन्होंने दत्त की इस आलोचना को और भी विकसित किया। अपनी पुस्तक *नेशनलिज़्म एंड कोलोनियलिज़्म इन मॉडर्न इंडिया* (1979) में वह तर्क देते हैं कि राष्ट्रवादी नेताओं का आधारभूत उद्देश्य आधुनिक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की संवृद्धि को प्रोत्साहित करने हेतु साम्राज्यवाद-विरोधी विचारधारा को आकार देना व ठोस स्वरूप प्रदान करना और अंततः एक व्यापक अखिल भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का निर्माण करना था। अपनी बात से वे अपनी पुस्तक *इंडियाज़ स्ट्रगल फॉर इंडिपेंडेंस 1857-1947* (1988) में परंपरागत मार्क्सवादी विचार से और अधिक दूर हो जाते हैं और राष्ट्रवादी आंदोलन के अध्ययन हेतु ग्राम्शी (Gramsci) के दृष्टिकोण को अपनाते हैं। इसमें राष्ट्रवादी नेताओं की रणनीति को वे उपनिवेशवाद के विरुद्ध ग्राम्शी द्वारा परिकल्पित 'स्थिति के संघर्ष' के तौर पर देखते हैं जिसमें लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु एक दीर्घकालिक संघर्ष चलाया जाता है। वे कहते हैं:

> यह भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन ... एकमात्र ऐसा आंदोलन है जहाँ व्यापक रूप से ग्राम्शी के 'स्थिति के संघर्ष' की सैद्धांतिक परिकल्पना को सफलतापूर्वक व्यवहार में लाया गया; जहाँ राज्य-शक्ति को किसी एक विशेष ऐतिहासिक पल में क्रांति से छीन नहीं लिया गया बल्कि नैतिक, राजनीतिक और विचारधारा के स्तर पर एक दीर्घकालिक लोकप्रिय संघर्ष के माध्यम से हासिल किया गया; जहाँ प्रभुत्व-विरोधी संसाधनों को प्रगतिवादी चरणों में कई वर्षों तक निर्मित किया गया; जहाँ संघर्ष के चरणों के बीच में निष्क्रियता के चरण भी वैकल्पिक रूप से आते रहे।

चंद्र ने राष्ट्रवादी आंदोलन की परिकल्पना एक सर्व-वर्गीय आंदोलन के रूप में की है जो पूर्ण रूप से समावेशी था तथा आंदोलन को प्रभावित करने के लिए किसी भी वर्ग को अवसर और स्थान प्रदान करता था। इसके अतिरिक्त वह कहते हैं कि कांग्रेस जो कि राष्ट्रीय आंदोलन का सबसे महत्वपूर्ण संगठन था और 'जिसने 1885 से 1947 के बीच इस संघर्ष का नेतृत्व किया था वह कोई दल नहीं था बल्कि एक आंदोलन था'।

वह कई इतिहासकारों तथा भारत में इतिहास लेखन की प्रवृत्तियों की आलोचना करते हैं कि वे यह नहीं समझ सके कि औपनिवेशिक भारत में मुख्य अंतर्विरोध भारतीय जनता तथा ब्रिटिश उपनिवेशवाद के बीच था। वर्गों, समूहों तथा समुदायों के बीच अंतर्विरोध अपनी जगह थे किंतु इतने महत्वपूर्ण नहीं थे। इस प्रकार कहें तो बिपन चंद्र भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के संबंध में परंपरागत मार्क्सवादी निर्वचन को संशोधित करते हैं और एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं।

19.3.4 इरफ़ान हबीब

इरफ़ान हबीब भारत के प्रमुख इतिहासकारों में हैं जिनका विशेष ज्ञान तो मध्यकालीन इतिहास का है किंतु उन्होंने भारतीय अतीत के सभी कालों पर उतनी ही दक्षता से लिखा है जिसमें प्राक्-ऐतिहासिक अतीत भी शामिल है। भारतीय इतिहास की अन्य शाखाओं की तरह मध्यकालीन भारत ने भी कई मार्क्सवादी इतिहासकारों को आकर्षित किया। नूरुल हसन, सतीश चंद्र, इरफ़ान हबीब, अतहर अली तथा हरबंस मुखिया उनमें से कुछ प्रमुख इतिहासकार हैं। इन्होंने मध्यकालीन भारतीय समाज, राजव्यवस्था और अर्थव्यवस्था का गहन अध्ययन किया है। इन इतिहासकारों के बीच इरफ़ान हबीब को विशेष रूप से महत्वपूर्ण समझा जाता है। मुग़ल अर्थव्यवस्था का उनका अध्ययन *एग्रेरियन सिस्टम ऑफ़ मुग़ल इंडिया* (1963) को इस काल के संबंध में सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों में माना जाता

है। इस पुस्तक में वह तर्क देते हैं कि उत्तर-मध्यकाल में आधारभूत अंतर्विरोध केंद्रीकृत शासक वर्ग (राज्य) तथा कृषक वर्ग के बीच था। अन्य प्रकार के अंतर्विरोध राज्य तथा *ज़मींदारों* के बीच, अपृश्यों तथा शेष समाज के बीच, जनजातियों और अतिक्रमणकारी कृषिगत जातीय समाज के बीच थे। हबीब के अनुसार, 'इन सभी में कर-राजस्व के मुहिम को प्रमुख संचालक शक्ति माना जा सकता है। भू-राजस्व व्यापक नगरीय क्षेत्र का पोषक था किंतु उच्च संग्रहण के लिए पड़ने वाले दबाव ने देश को बदहाल कर दिया था, *ज़मींदारों*, जिनका अधिशेष में हिस्सा प्रभावित हो रहा था, को नाराज़ कर दिया था और परिणामस्वरूप जिसने किसानों को विद्रोह के लिए प्रेरित किया'।

मध्यकालीन भारतीय इतिहास पर इस पुस्तक का अनुसरण उनके अन्य महत्वपूर्ण योगदानों जैसे *एटलस ऑफ़ द मुग़ल एंपायर* और उनके द्वारा संपादित पुस्तकों *कैंब्रिज इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया* का प्रथम भाग (1982) ने किया। इसके अतिरिक्त उनकी विभिन्न पुस्तकें और आलेख, जिनमें *कास्ट एंड मनी इन इंडियन हिस्ट्री* (1987), *इंटरप्रेटिंग इंडियन हिस्ट्री* (1988) और *एसेज़ इन इंडियन हिस्ट्रीः टुवर्ड्स अ मार्क्सिस्ट परसेप्शन* (1995) शामिल हैं, जो भारतीय इतिहास के विभिन्न कालों का अन्वेषण तथा उन पर टिप्पणी करते हैं।

बोध प्रश्न-1

1) मार्क्सवादी इतिहासलेखन के प्रमुख विचारों की चर्चा कीजिए।

....

....

....

2) किन्हीं दो भारतीय मार्क्सवादी इतिहासकारों के विचारों तथा कृतियों पर लेख लिखिए।

....

....

....

19.4 सबाल्टर्न इतिहास लेखन की प्रमुख विशेषताएँ

सबाल्टर्न इतिहासलेखन का उदय *सबाल्टर्न स्टडीज़* संस्करणों की एक श्रृंखला से हुआ था जिसका शुरुआती तौर पर रणजीत गुहा द्वारा संपादन किया गया था। इस श्रृंखला की शुरुआत 1982 में हुई तथा 2005 तक इसके 12 संस्करण प्रकाशित हो चुके थे। पहले छः संस्करणों का संपादन इस परियोजना के संस्थापक रणजीत गुहा द्वारा किया गया था। इसके बाद के प्रत्येक संस्करण का संपादन इस समूह से संबंध रखने वाले पृथक संपादकों द्वारा किया गया था। बीस वर्षों से भी अधिक के इस समय में भारतीय इतिहासलेखन की यह बौद्धिक परियोजना अत्यंत प्रभावशाली बन गई और इसका प्रभाव बना रहा है।

इसके समर्थकों द्वारा *सबाल्टर्न स्टडीज़* को इतिहास लेखन की नई विचारधारा एवं कार्यक्षेत्र की शुरुआत के रूप में घोषित किया गया जो भारतीय इतिहास लेखन की तब तक मौजूद समस्त प्रवृत्तियों से भिन्न था। विद्वानों का एक समूह, जो भारत में समकालीन इतिहास लेखन का आलोचक था, भी इससे जुड़ा और इसके संस्करणों में उन्होंने भी योगदान दिया। कुछ अन्य भी थे जो केंद्रीय समूह का हिस्सा नहीं थे लेकिन उन्होंने इस श्रृंखला के लिए आलेख लिखे। शुरुआत में इसे केवल तीन संस्करणों की श्रृंखला में प्रकाशित करने की योजना थी किंतु इसके साथ अधिकाधिक इतिहासकारों के जुड़ने से यह लंबे समय तक चलता रहा। जिन विषय-वस्तुओं को इसमें शामिल किया गया वे भी विभिन्न दिशाओं में विस्तृत होती गईं जिनमें ग़ैर-भारतीय, तृतीय विश्व (Third World) के विषय भी शामिल थे। शुरुआती रूप से इसके समर्थक ग्राम्शी तथा पश्चिम के मार्क्सवादी सामाजिक इतिहासकारों से प्रभावित थे। बाद के समय में इनमें से कई उत्तर-आधुनिकतावाद तथा उत्तर-उपनिवेशवाद के प्रभाव में भी आए। इस सम्पूर्ण काल के सबाल्टर्न इतिहास लेखन के प्रमुख तर्कों को इस प्रकार सारबद्ध किया जा सकता हैः

- अब तक अस्तित्व में रहा समस्त भारतीय इतिहासलेखन दो तरह के अभिजात्यवाद से ग्रस्त रहा है – औपनिवेशिक अभिजात्यवाद तथा राष्ट्रीय पूँजीपति अभिजात्यवाद।

- सबाल्टर्न इतिहासकार आम जन, जैसे किसानों तथा अन्य निम्न या शोषित वर्गों, के दृष्टिकोण से इतिहास लिखकर भारतीय इतिहास लेखन की धारा की दिशा को बदलना चाहते थे।
- अभिजात्य वर्ग और उसकी विचारधारा की आलोचना को इस परियोजना का आरंभ बिंदु माना जाता था।
- इन इतिहासकारों का लक्ष्य सबाल्टर्न (अर्थात निम्नपदस्थ) वर्गों को विचारशील तथा सक्रिय अभिकर्ताओं के रूप में प्रस्तुत करना था, बजाय कि मात्र निष्क्रिय कर्ताओं के रूप में। यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि उनके कृत्यों के विषय में स्वतःस्फूर्त जैसा कुछ भी नहीं था और इन वर्गों ने सचेतन निर्णय लिए और अपने कृत्यों, जिनमें उनके विद्रोह शामिल थे, के लिए योजनाएँ बनाईं।
- दृढ़ता के साथ यह भी कहा गया कि राजनीतिक, विचारधारात्मक और सामाजिक स्तर पर अभिजात्य और सबाल्टर्न दो पृथक प्रक्षेत्रों के रूप में कार्यरत रहते हैं। जिस प्रक्षेत्र में सबाल्टर्न वर्ग मौजूद थे, विचार और कार्य कर रहे थे वह स्वायत्त प्रक्षेत्र था तथा वर्चस्वशाली वर्गों की भूमिका तथा प्रभाव इस प्रकार के प्रक्षेत्र में अपेक्षाकृत सीमित ही थे।
- संगठनात्मक स्तर पर भी सबाल्टर्न राजनीति स्वतंत्र थी तथा परंपरागत सामाजिक संस्थाओं जैसे जाति, नातेदारी, जनजातीय तंत्रों, इत्यादि पर निर्भर करती थी।
- सबाल्टर्न वर्गों की चेतना परंपरागत धार्मिक विचारधारा से प्रेरित थी क्योंकि औपनिवेशिक विचारधारा और पूँजीवादी राष्ट्रवादी विचारधारा, दोनों, ही सबाल्टर्न चेतना पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में असफल रहे थे।
- जहाँ अभिजात्य लामबंदी (mobilisation) लंबवत (vertical) एवं पदानुक्रमिक (hierarchical) थी, सबाल्टर्न लामबंदी क्षैतिज (horizontal) तथा समतापूर्ण थी। इसके अतिरिक्त जहाँ अभिजात्य लामबंदी विधि-सम्मत (legalistic) और शांत किस्म की थी, सबाल्टर्न लामबंदी अपेक्षाकृत हिंसक थी (उपाध्याय, 2016: 541)।

ये सबाल्टर्न इतिहासलेखन के प्रमुख सूत्रीकरण हैं जो सबाल्टर्न अध्ययन के अधिकांश आलेखों में किसी न किसी रूप में मौजूद रहे हैं। अब हम कुछ महत्वपूर्ण सबाल्टर्न इतिहासकारों और उनकी कृतियों की चर्चा करेंगे।

19.5 कुछ महत्वपूर्ण सबाल्टर्न इतिहासकार

उन विद्वानों, जिन्होंने *सबाल्टर्न स्टडीज* के लिए लिखा और सबाल्टर्न इतिहासलेखन के प्रभाव में अपनी कृतियों की रचना की, की संख्या बहुत अधिक है। उनकी संख्या भी अच्छी-खासी है जो सबाल्टर्न विचारधारा के साथ इस लंबे काल में खड़े रहे। इन सब की चर्चा करना यहाँ संभव नहीं है। निम्नलिखित उप-भागों में हम केवल चार सबाल्टर्न इतिहासकारों की चर्चा करेंगे।

19.5.1 रणजीत गुहा

रणजीत गुहा *सबाल्टर्न स्टडीज* परियोजना की प्रमुख प्रेरक शक्ति रहे हैं। इसकी शुरुआत से ही वह भारतीय इतिहास लेखन की अन्य प्रवृत्तियों के प्रति आलोचक रवैया रखते थे। *सबाल्टर्न स्टडीज* के पहले संस्करण में अपनी 'भूमिका' (preface) में उन्होंने घोषणा की कि 'भारतीय राष्ट्रवाद का इतिहास लेखन लंबे समय तक अभिजात्यवाद-उपनिवेशवादी अभिजात्यवाद तथा पूँजीपति राष्ट्रवादी अभिजात्यवाद के प्रभाव में रहा है'। उनका कहना था कि औपनिवेशिक इतिहासलेखन तथा राष्ट्रवादी इतिहासलेखन, दोनों, में बहुत सी समानताएँ थीं। इन दोनों की यह प्रमुख विशेषता थी कि इन्होंने आम जनता की राजनीति को अनदेखा किया। इन सभी प्रवृत्तियों से संबंध रखने वाले इतिहासकारों द्वारा जनता की राजनीति को अपने साध्य की पूर्ति हेतु उपयोग किया गया। इस प्रकार औपनिवेशिक, राष्ट्रवादी तथा मार्क्सवादी विमर्श (discourse) 'विनियोजन का एक ऐसा कृत्य माना गया जिसने विद्रोही को एक सचेतन अभिकर्ता के रूप में स्वयं के इतिहास से ही बहिष्कृत कर दिया था' (उपाध्याय, 2016: 549)। इतिहास लेखन के पुराने स्वरूपों पर प्रतिक्रिया करते हुए गुहा ने कहा कि सबाल्टर्न इतिहासकारों को जो चीज़ साथ में लाई है वह इस अभिजात्यवाद के प्रति विरोध हैः

> हम वास्तव में इतिहासलेखन और सामाजिक विज्ञान के प्रचलित अधिकांश अकादमीय तौर-तरीकों, इनके सबाल्टर्न को स्वयं की नियति का निर्माण करने वाले के रूप में स्वीकार करने में असफल रहने के कारण, के प्रति विरोध रखते हैं। यह आलोचना इस परियोजना में केंद्रीय स्थान रखती है। अभिजात्यवादी आदर्श, जो दक्षिण एशियाई अध्ययनों में भली-भाँति घर कर चुका है, के विरोधी के रूप में स्वयं को अभिव्यक्त करने के अतिरिक्त कोई दूसरा तरीका नहीं है। नकारात्मकता, इस प्रकार, हमारी इस परियोजना के अस्तित्वमान होने का कारण और साथ ही इसका रचनात्मक सिद्धांत भी है।
>
> **गुहा, *सबाल्टर्न स्टडीज़*, संस्करण III, 1984: vii**

अपनी पुस्तक *एलीमेंट्री आसपेक्ट्स ऑफ़ पैज़ेंट इन्सर्जेन्सी* (1983) में गुहा यह तर्क देते हैं कि 'किसानों के विद्रोह के संबंध में समस्त ऐतिहासिक विमर्श, इस प्रकार, अपनी शुरुआत सत्ता के विमर्श के रूप में करता है। अतीत के अपने निरूपण में यह रैखिक और धर्मनिरपेक्ष है, बजाय कि चक्रीय और मिथकीय होने के। इनमें राज्य के अस्तित्व के औचित्य के अतिरिक्त कुछ भी अन्य उद्देश्य नहीं है'। इसी प्रकार के तर्क से यह राज्य का विमर्श भी है। इस प्रकार 'राज्य की सुरक्षा को किसानों के विद्रोह की केंद्रीय समस्या बनाकर इसमें इस विद्रोह को उपनिवेशवाद के काल में एक तत्व मात्र के रूप में आत्मसात कर लिया गया है। दूसरे शब्दों में, इतिहास के निर्माता के रूप में किसान की पहचान स्वयं के अधिकार में नकार दी गई, उस परियोजना के संदर्भ में भी जो उसकी स्वयं की थी' (*एलीमेंट्री आसपेक्ट्स ऑफ़ पैज़ेंट इन्सर्जेन्सी*, पृ. 3)।

गुहा के अनुसार ये विमर्श इतने अधिक अभिजात्यवादी थे और धर्मनिरपेक्षता तथा राज्यवादी विचारों पर केंद्रित थे कि वह 'विद्रोहियों की चेतना में धार्मिक तत्व के साथ सहज होने के अनिच्छुक थे'। इतिहास के अनुसार विद्रोही की चेतना विशेष रूप से धार्मिक पदों में अभिव्यक्त हुई थी और 'उपद्रव के विषय में केवल धार्मिक चेतना के रूप में बात करने के ... अलावा कोई अन्य तरीका सम्भव नहीं है' (*एलीमेंट्री आसपेक्ट्स ऑफ़ पैज़ेंट इन्सर्जेन्सी*, पृ. 38, 34)। किसान विद्रोहियों पर अपनी स्वयं की विचारधारा थोपने की प्रक्रिया में इन अभिजात्यवादी ऐतिहासिक विमर्शों ने पूर्ण रूप से इन विद्रोहियों की वास्तविक विचारधारा को अनदेखा कर दिया था।

19.5.2 पार्था चटर्जी

सबाल्टर्न इतिहासकारों के बीच एक अन्य अग्रणी विद्वान पार्था चटर्जी उत्तर-आधुनिकतावाद और उत्तर-उपनिवेशवाद के विचारों से इस परियोजना की शुरुआत से ही प्रभावित थे। अपनी प्रभावशाली पुस्तक *नैशनलिस्ट थॉट एंड कोलोनियल वर्ल्ड* (1986) में उन्होंने एडवर्ड सईद के उत्तर-औपनिवेशिक ढाँचे का उपयोग किया जिसमें औपनिवेशिक शक्ति-ज्ञान को अत्यधिक प्रभावशाली और वर्चस्वशाली बताया गया है। अपनी बाद की पुस्तक *द नेशन एंड इट्स फ़्रैग्मेंट्स* (1993) में उन्होंने इस विश्लेषण को और आगे बढ़ाया है।

अपनी पुस्तक *नैशनलिस्ट थॉट* में चटर्जी यह तर्क देते हैं कि उत्तर-प्रबोधन युग के यूरोपीय ज्ञान के रूप इतने शक्तिशाली थे कि उन्होंने कई राष्ट्रवादी विचारकों को यूरोपीय विद्वानों का अनुयायी मात्र बना दिया था। बहरहाल, कुछ निश्चित तरीकों से वह गाँधी के विचारों को स्वतंत्र और उत्तर-प्रबोधन विचारों के सैद्धांतिक दायरे से बाहर मानते हैं। उनके मत में गाँधी के विचार एक अंतरनिष्ठ रूप से 'कृषक-सामुदायिक' चरित्र रखते थे। गाँधी को छोड़कर अन्य सभी राष्ट्रवादी विचारक गहरे रूप से औपनिवेशिक विमर्शों का अनुकरण करने में ही संलग्न थे। उदाहरण के लिए, बंकिम चंद्र तथा नेहरू राष्ट्रवाद के संबंध में यूरोपीय विचारों का अनुसरण करते थे।

अपनी कृति *द नेशन एंड इट्स फ़्रैग्मेंट्स* में चटर्जी ने यह तर्क दिया है कि उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रवाद भारत में अपने यूरोपीय समकक्ष राष्ट्रवाद की नकल मात्र नहीं था, इसने स्वयं का रास्ता तैयार किया और 'साम्राज्यवादी शक्ति के साथ राजनीतिक संघर्ष शुरू करने से पहले ही औपनिवेशिक समाज के भीतर अपना स्वयं का एक संप्रभु प्रक्षेत्र सृजित किया'। उनके अनुसार दो पृथक प्रक्षेत्रों की रचना हुई। आंतरिक प्रक्षेत्र में अध्यात्म पर बल दिया गया जबकि भौतिकता को बाहरी प्रक्षेत्र के लिए उचित माना गया। आंतरिक और आध्यात्मिक क्षेत्र को औपनिवेशिक शक्ति के प्रभाव से दूर रखा गया किंतु बाह्य प्रक्षेत्र में यूरोपियों तथा औपनिवेशिक अधिकारियों के साथ निरंतर अंतःक्रिया तथा

धन, शक्ति और नवीन विज्ञान व प्रौद्योगिकी के अनुशीलन को महत्वपूर्ण गतिविधि माना गया। वह तर्क देते हैं कि यह 'आंतरिक प्रक्षेत्र था जहाँ से भारतीय राष्ट्रवाद ने अपना जीवन प्राप्त किया था और यहीं एक आधुनिक राष्ट्रीय संस्कृति का सृजन किया गया जो आधुनिक तो थी पर पश्चिमी नहीं थी। यहीं यह हुआ कि राष्ट्र को ... एक काल्पनिक समुदाय के रूप में अस्तित्व में लाया गया' (उपाध्याय, 2016: 552-54)।

19.5.3 ज्ञानेंद्र पांडे

ज्ञानेंद्र पांडे सबाल्टर्न इतिहासकारों में एक महत्वपूर्ण इतिहासकार हैं जिनका लेखन *सबाल्टर्न स्टडीज* के विकासक्रम के विभिन्न चरणों में विस्तृत है। अपने एक शुरुआती आलेख 'पैज़ेंट रेवोल्ट एंड इंडियन नैशनलिज़्म, 1919-1922' में उन्होंने यह तर्क दिया था कि अवध के ग्रामीण क्षेत्र में किसानों का आंदोलन राष्ट्रवादी आंदोलन से स्वायत्त, मुक्त एवं एक भिन्न आंदोलन के रूप में अस्तित्व में था। इस प्रकार वे गाँधीवादी असहयोग आंदोलन से पहले ही और स्वतंत्र रूप से अस्तित्व में उठ खड़े हुए थे। उनके अनुसार शहरी राष्ट्रवादी नेताओं के मुकाबले स्थानीय शक्ति के ढाँचे की और उपनिवेशवाद के साथ इसके सहयोग के संबंध में किसानों की समझ अधिक परिष्कृत थी। यह किसान आंदोलन अधिक उग्र स्वरूप लिए हुए थे। लेकिन, किसानों का उग्रवाद तब सीमित हो गया जब कांग्रेस ने इस आंदोलन पर नियंत्रण कर लिया और आंदोलन पर स्वयं के कार्यक्रम को लाद दिया था।

अपने बाद के लेखन में पांडे ने विस्तारपूर्वक उसका अन्वेषण किया है जिसे वे औपनिवेशिक समय में संप्रदायवाद की निर्मिती कहते हैं। अपने कई आलेखों और किताबों में उन्होंने उत्तर-भारत में संप्रदायवाद के विकास और प्रसार का विश्लेषण किया है। उत्तर प्रदेश और बिहार में गौ-रक्षा के आंदोलनों के अपने विश्लेषण में वह लोगों के विभिन्न वर्गों, जैसे छोटे *जमींदारों*, शिल्पकारों, किसानों और अन्य कई कृषक जातियों तथा समूहों, की खराब होती स्थिति में इसके मूल को स्थापित करते हैं। उन्होंने यह तर्क दिया कि ऊपर की ओर सामाजिक गतिशीलता के अपने प्रयास में कई जातियों ने संप्रदायवादी दुष्प्रचार का सहारा लिया जिसने निश्चित तौर पर समाज में उनके आनुष्ठानिक दर्जे को ऊपर उठाया। यहाँ तक कि मुस्लिमों में भी, जैसा कि पांडे ने *सबाल्टर्न स्टडीज* के तीसरे संस्करण में अपने निबंध 'क़स्बा मुबारकपुर' पर शोध किया है, *जमींदारों* की बढ़ती दरिद्रता तथा गरीब जुलाहों के सामाजिक और धार्मिक दावों के साथ भी यही प्रक्रिया काम कर रही थी।

अपनी पुस्तक *कंस्ट्रक्शन ऑफ़ कम्युनलिज़्म इन कोलोनियल नॉर्थ इंडिया* (1989) में पांडे इस पर बल देते हैं कि संप्रदायवाद को एक सुसंगत विचारधारा बनाने के लिए औपनिवेशिक विमर्श (discourses) ज़िम्मेदार थे। संप्रदायों के बीच होने वाले साधारण से झगड़ों को भी हिंदुओं और मुस्लिमों के बीच सांप्रदायिक दंगों के रूप में पेश किया जाता था। उनके अनुसार औपनिवेशिक विमर्श का यह प्रयास था कि 'यहाँ की जनसंख्या का विकृत चरित्र स्थापित किया जाए और ''हिंदुओं'' तथा ''मुस्लिमों'' के बीच आधारभूत वैपरीत्य स्थापित किया जाए'। इस प्रकार संपूर्ण पूर्व-औपनिवेशिक इतिहास को 'मूल रूप से अंधकारमय और अनुशासनहीन' तथा विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच संघर्ष के रूप में वर्णित किया गया। उन्होंने यह भी तर्क दिया है कि भारतीय अतीत का अंधकारमय चित्रण ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन का औचित्य सिद्ध करता था जिसने कानून और व्यवस्था की स्थापना तथा निरंतर झगड़ने वाले समुदायों के बीच शांति की स्थापना की थी।

अपने आलेख 'द प्रोज़ ऑफ़ अदरनेस' (1994) में पांडे ने हिंसा के प्रश्न पर औपनिवेशिक विमर्श का अनुसरण करने के लिए सभी प्रकार के आधुनिकतावादियों, 'धर्मनिरपेक्ष' तथा 'वैज्ञानिक' इतिहासकारों की आलोचना की है। वह तर्क देते हैं कि भीड़ की हिंसा को पागलपन, अतार्किक, कट्टरता तथा असामान्यता के रूप में चित्रित करते हुए इन इतिहासकारों ने विभाजन की हिंसा की वास्तविक प्रकृति को ग़लत रूप में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार इन घटनाओं को एक संतुलित तरीके से देखा जाना चाहिए और इतिहासकारों को '''हाशिए'' पर स्थित लोगों व संप्रदायों की आवाज़ों स्मृतियों, उनके भुला दिए गए स्वप्नों तथा प्रतिरोध के चिह्नों का पुनरुद्धार करने' की कोशिश करनी चाहिए'।

अपनी अन्य पुस्तक *रिमेंबरिंग पार्टीशन* (2001) में वह उपर्युक्त बिंदुओं को पुनः प्रस्तुत करते हैं और 'अनुचिह्नों' (traces), 'खंडों' (fragments) तथा 'हाशिए (marginal) की आवाज़ों', के अध्ययन की आवश्यकता पर बल देते हैं। वे तर्क देते हैं कि 'हाि शए के खंडों व उनकी आवाज़ों का उद्देश्य

वैकल्पिक विचार बिंदुओं, दूसरे दृष्टिकोणें तथा लेखन के अन्य तरीकों को उजागर करना होता है ताकि उन दृष्टिकोणें को समझा और ग्रहण किया जा सके। यहाँ ''खंड'' का उपयोग मात्र ''टुकड़े'' या शब्दकोश के एक पहले से अस्तित्व में रही संपूर्ण इकाई से ''टूटकर अलग हुए हिस्से'' के रूप में नहीं किया गया है बल्कि यह एक ''विचलन करने वाला तत्व'' है। एक ''विचलन'', एक अंतर्विरोध, उस विशेष संपूर्णता, जो बिना आलोचनात्मक हुए इसका समर्थन करते हैं, के आत्म-निरूपण में' (पांडे, *रिमेम्बरिंग पार्टिशन,* 2001ः 296)।

19.5.4 दीपेश चक्रवर्ती

दीपेश चक्रवर्ती *सबाल्टर्न स्टडीज* के मूलभूत सदस्यों में से रहे हैं जो सभी मंचों पर इसके आलोचकों के समक्ष ज़ोर-शोर से इसका बचाव भी करते रहे हैं। शुरुआत से ही इन्होंने इतिहास के आर्थिक विवेचन के प्रति असहजता दिखाई थी जिसे मार्क्सवाद के विशेष अनुयायियों द्वारा बढ़ावा दिया जा रहा था। बंगाल के पटसन (jute) कामगारों पर अपने आलेखों तथा पुस्तक में उन्होंने आर्थिक के बजाय सांस्कृतिक पहलुओं पर अधिक बल दिया है। वह यह मानते हैं कि उद्योगपतियों तथा भर्ती करने वाले अभिकर्ताओं के साथ तथा कामगारों के बीच भी एक विशेष प्रकार की संस्कृति थी जिसने एक 'सशक्त प्राक्-पूँजीवादी संस्कृति को आकार दिया जिसमें धर्म, समुदाय, नातेदारी, भाषा तथा अन्य प्राक्-आधुनिक निष्ठाओं के ऊपर अत्यंत बल दिया गया था' (उपाध्याय में उद्धृत, 2016ः 558)।

अपनी सर्वाधिक प्रसिद्ध पुस्तक *प्रोविंशियलाइज़िंग यूरोप* में वह विश्व में मौजूद रहे पश्चिमी बौद्धिक प्रभुत्व की आलोचना करते हैं जिसने संपूर्ण विश्व में जिस तरह इतिहास लिखा जा रहा है उसे आकार दिया और अभी भी आकार प्रदान करता है। इसका परिणाम ग़ैर-यूरोपीय देशों में देशीय ज्ञान-तंत्रों को हाशिए में धकेल देने में निकला। देशीय स्वरूप के इतिहास की जगह यूरोपीय मॉडल ने ले ली और इस प्रकार यूरोप संपूर्ण धरती पर लिखे जाने वाले इतिहासों का केंद्रीय विषय बन गया। वह मानते हैं कि आधुनिक काल में इतिहास को सार्वभौमिक रूप प्रदान करने की इस चाह का प्रतिरोध किया जाना चाहिए।

वह यद्यपि यह स्पष्ट कर देते हैं कि उनका 'आह्वान सांस्कृतिक सापेक्षतावाद (relativism) या संजाहीन (atavistic), देशीय इतिहास के लिए नहीं है। न ही उनका यह कार्यक्रम आधुनिकता की साधारण सी अस्वीकार्यता है जो कई परिस्थितियों में राजनीतिक रूप से आत्मघाती साबित होगा'। वस्तुतः वह कहते हैं, 'मैं ऐसे इतिहास की आकांक्षा करता हूँ जो अपने वर्णनात्मक ढाँचे में ही सायास स्वयं की दमनकारी रणनीतियों और रीतियों को प्रकट करता हुआ चलता है तथा अपनी उस भूमिका को उजागर करे जो आधुनिक राज्य की परियोजना में मानवीय एकजुटता की अन्य सभी संभावनाओं को आत्मसात करते हुए नागरिकता के आख्यानों का मिश्रण करने में निभाता है' (*प्रोविंशियलाइज़िंग यूरोप,* पृ. 45)।

इसके बजाय वह जिस इतिहास का प्रस्ताव रखते हैं वह 'बहुलतापूर्ण इतिहास' है जो विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोणों के बीच संवाद को बढ़ावा देगा और एक विविधता को गति प्रदान करेगा जो मुख्यधारा के इतिहास की सर्वस्व को समरूप बना देने की प्रवृत्ति का विरोध करेगा।

बोध प्रश्न-2

1) सबाल्टर्न इतिहासलेखन की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं?

....

....

....

2) किन्ही दो सबाल्टर्न इतिहासकारों की रचनाओं की चर्चा कीजिए।

....

....

....

19.6 सारांश

मार्क्सवादी तथा सबाल्टर्न इतिहासलेखन, जिनकी हमने इस इकाई में चर्चा की है, शोषितों तथा वंचित वर्गों के पक्ष में आवाज़ उठाने का दावा करते हैं। यह दोनों ही निम्न वर्गों को अनदेखा करने की प्रवृत्ति के कारण विभिन्न प्रकार के औपनिवेशिक तथा राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की आलोचना करते हैं। इतिहास लेखन के ये दोनों प्रकार व रूप भारतीय समाज के अधीनस्थ समूहों को न केवल इतिहास के दायरे में लाने में सफल हुए हैं बल्कि कभी-कभी उन्हें केंद्रीय स्थान भी प्रदान करते हैं। लेकिन, इन दोनों के बीच कुछ निश्चित भिन्नताएँ हैं और दोनों ही एक-दूसरे के प्रति आलोचनात्मक रवैया रखते हैं। जहाँ सबाल्टर्न इतिहासकार मार्क्सवादी इतिहासकारों पर अधीनस्थ वर्गों की यथार्थ वाणी को ध्यान में न रखने का आरोप लगाते हैं वहीं मार्क्सवादी इतिहासकार सबाल्टर्न इतिहासकारों पर एकतरफ़ा/एंकागी चित्र प्रस्तुत करने का आरोप लगाते हैं।

19.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 19.2

2) भाग 19.3 से सहायता लें

बोध प्रश्न-2

1) देखें भाग 19.4

2) देखें भाग 19.5

19.8 संदर्भ ग्रंथ

गुहा, रणजीत, (1983) *एलीमेंट्री आसपैक्ट्स ऑफ़ पैज़ेट इन्सर्जेन्सी* (नई दिल्लीः ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

गुहा, रणजीत, (संपा.) *सबाल्टर्न स्टडीज़*, भाग I तथा III.

उपाध्याय, शशि भूषण, (2016) *हिस्टॉरीयोग्रफ़ी इन द मॉडर्न वर्ल्डः वैस्टर्न एंड इंडियन पेर्सपेक्टिवेस* (नई दिल्लीः ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

19.9 शैक्षणिक वीडियो

द पैज़ेट, दैन एंड नाओः थर्टी इयर्ज़ ऑफ़ रणजीत गुहाज़ ऐलिमैन्टरी आसपैक्ट्स
https://www.youtube.com/watch?v=YXKyxc6pzb4&t=1011s

डिबेटः मार्क्सिज़्म एंड द लैगेसी ऑफ़ सबौल्टर्न स्टडीज़ – हिस्टॉरिकल मटीरियलिज़्म एन वाई 2013
https://www.youtube.com/watch?v=xbM8HJrxSJ4&t=16s

रिविज़िटिंग नैशनलिस्ट थॉट एंड द कलोनियल वर्ल्डः ए कनवर्सेशन विद पार्था चटर्जी
https://www.youtube.com/watch?v=jaZn9IqPJZg

इन रिट्रौस्पैक्टः सबाल्टर्न स्टडीज़ एंड फ्यूचर्ज़ पास्ट – दीपेश चक्रबर्ती
https://www.youtube.com/watch?v=YEW-jVr4fJU

मार्जिंस एंड मार्जिनैलिटीज़
https://www.youtube.com/watch?v=SessF1WOWwc

दलित मेमॉयर्सः री-स्क्रिप्टिंग द सबाल्टर्न बॉडी
https://www.youtube.com/watch?v=vVA1NsiTUV0

इकाई 20 इतिहास लेखन में उभरते विषय*

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 पर्यावरणीय इतिहास

20.3 श्रम-इतिहास (Labour History)

20.4 स्त्रियों का इतिहास

20.5 सारांश

20.6 शब्दावली

20.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

20.8 संदर्भ ग्रंथ

20.9 शैक्षणिक वीडियो

20.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप सक्षम होंगे:

- भारत में इतिहास लेखन की कुछ नई प्रवृत्तियों की प्रकृति को समझने में, और
- इस पर विचार करने में कि किस प्रकार ये नए विषय भारत में इतिहास लेखन की नई दिशाओं को आकार दे रहे हैं।

20.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम भारतीय इतिहास लेखन में उभर रहे कुछ विषयों पर नज़र डालेंगे। अब तक आप सबाल्टर्न अध्ययन तक की इतिहास लेखन की प्रवृत्तियों को जान चुके हैं। आपने देखा है कि किस तरह नई प्रविधियों और नए स्रोतों की खोज ने सबाल्टर्न अध्ययन के लेखन को प्रभावित किया है जिसका परिणाम भारत में 'नीचे से इतिहास को देखने' की शुरुआत में निकला। इसी प्रकार पर्यावरणीय इतिहास, श्रम-इतिहास और स्त्रियों के इतिहास के क्षेत्र में नए प्रश्न सामने आए और इनका उत्तर प्रस्तुत करते हुए इतिहासकारों ने इन ज्ञानक्षेत्रों, कार्यक्षेत्रों तथा प्रभाव-क्षेत्रों को भारतीय इतिहास लेखन की उभरती हुई प्रवृत्तियों तथा प्रतिमानों के रूप में प्रस्तुत किया। निस्संदेह इतिहास लेखन में विभिन्न कालों के संबंध में राजव्यवस्था, अर्थव्यवस्था तथा समाज के परंपरागत क्षेत्रों में नए प्रश्न भी नई विषय-वस्तुओं को सामने लाए हैं। इनमें से कुछ को हमने पहले की इकाइयों में रेखांकित किया है। यहाँ हम पर्यावरण, श्रमिकों और महिलाओं के इतिहास-संबंधी अध्ययनों के कुछ प्रतिदर्श उदाहरणों को ध्यान में रखेंगे जो स्वयं को भारतीय इतिहास लेखन में हो रहे नवीन कार्यों के साथ उभरते हुए विषयों के रूप में पेश कर रहे हैं।

20.2 पर्यावरणीय इतिहास

पर्यावरणीय इतिहास के क्षेत्र में अतीत और वर्तमान के **पर्यावरणीय संकट** की स्पष्ट जागरूकता प्रतिबिंबित होती है। पर्यावरण तथा इसकी मानव व मानव-निर्मित सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं के साथ अंतर-क्रिया का प्रश्न हमेशा से ही भारतीय इतिहास लेखन में विभिन्न कालों के संबंध में सामने आता रहा है। रोमिला थापर और इरफ़ान हबीब जैसे विद्वानों ने पहले ही प्राचीन और मध्यकालीन समय में मनुष्य के पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभाव पर टिप्पणी की है। इसी प्रकार आधुनिक

* श्री अजय माहुरकर, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

काल के लिए रिचर्ड ग्रोव ने औपनिवेशिक काल में इतिहासकारों द्वारा सामने लाई गईं पर्यावरण की समस्याओं को रेखांकित करने के लिए *ग्रीन इंपीरियलिज़्म* नाम से एक पुस्तक लिखी जो हमें औपनिवेशिक शासकों द्वारा भारत में तथा अन्य देशों में उजागर किए गए पर्यावरण के मुद्दों का तुलनात्मक अध्ययन प्रदान करती है।

भारतीय पर्यावरण-संबंधी इतिहास को नई दिशा में ले जाने वाली कृतियों में से रामचंद्र गुहा की *अनक्वाइट वुड़ज़* अग्रणी है। इसमें गुहा अपने समय में बड़ी संख्या में सामने आ रहे हैं कृषक इतिहासों के परिप्रेक्ष्य में लिखते हुए यह तर्क रखते हैं कि सामाजिक और आर्थिक उत्पादन तंत्र पारिस्थितिकीय विशेषताओं, जैसे जीव, वनस्पति तथा जलवायु, द्वारा निर्धारित होते हैं। ऐसा करते हुए वह इस ओर संकेत करते हैं कि इन सामाजिक-आर्थिक तंत्रों में वन्य पारिस्थितिकी में होने वाले बदलाव के साथ परिवर्तन आते रहे हैं। चूँकि औपनिवेशिक तथा उत्तर-औपनिवेशिक व्यवस्था ने अत्यधिक सीमा तक वन्य परिस्थितिकी को बदल कर रख दिया था अतः इन परिवर्तनों के विरुद्ध प्रतिरोध उठ खड़ा हुआ जिसकी जड़ें अपने समय की प्रशासनिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं के विरुद्ध किसानों के प्रतिरोध की परंपराओं में निहित थीं।

जैसा कि माइकल रेनॉल्ड्स गुहा की पुस्तक की समीक्षा में संकेत करते हैं:

> 1815 से 1949 के बीच ब्रितानियों ने इस क्षेत्र (उत्तराखंड) को दो सामाजिक-राजनीतिक तंत्रों – कुमाऊँ तथा टिहरी गढ़वाल – में विभाजित किया था। टिहरी गढ़वाल का पूर्वी क्षेत्र कुछ कम सामरिक महत्व का था जिसका शासन परंपरागत राजा के हाथ में था। कुमाऊँ का पश्चिमी क्षेत्र तिब्बत के साथ वाणिज्य व व्यापार के लिए महत्वपूर्ण था। उसका शासन ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा एक औपनिवेशिक अधिक्षेत्र के रूप में 1949 तक किया जाता रहा। 19वीं शताब्दी के मध्य से कुमाऊँ और टिहरी गढ़वाल लगभग समान पारिस्थितिकीय परिवर्तन की प्रक्रिया से गुज़रे। वनों के दोहन के जर्मन नमूने पर आधारित 'वैज्ञानिक वानिकी' ने किसानों से वनों का नियंत्रण छीन लिया। विभिन्न प्रजातियों वाले वनों को वाणिज्यिक रूप से महत्वपूर्ण शंकुधारी वृक्षों (conifers) के समरूप वनों में बदल देने वाली नई नीतियों को लागू किया गया। इन नए कानूनों को इन दोनों क्षेत्रों में लागू किया गया जो केवल निजी स्वामित्व को मान्यता देते थे, इस प्रकार उन परंपरागत समुदायों को खंडित करते हुए वानिकी के प्रबंधन की परंपरागत व्यवस्थाओं को खतरा प्रस्तुत किया जिन्होंने इन वनों को सदियों से बनाए रखा था। जैसा कि गुहा ने दर्शाया है, परंपरागत सामुदायिक रीतियों का व्यक्तिगत अधिकार वाली व्यवस्था के साथ इस प्रतिस्थापन ने किसानों और वनों के बीच अलगाव पैदा किया और उनकी तबाही को और तीव्र बना दिया। इन दोनों क्षेत्रों में होने वाले पारिस्थितिकीय और आर्थिक परिवर्तनों के बीच कई समानताएँ होने के बावजूद किसानों ने इन दोनों क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न तरीकों से प्रतिरोध किया। शुरुआती तौर पर, परंपरागत रूप से मान्यता प्राप्त धैर्ययुक्त प्रतिरोध (passive resistance) के रूप में *ढांडक*, जिसे उस नेता के विरुद्ध प्रयोग किया जाता था जो अपनी प्रजा के अधिकारों की रक्षा करने में असफल रहता था, का तरीका कुमाऊँ तथा टिहरी गढ़वाल, दोनों ही स्थानों, में देखने को मिला था। टिहरी गढ़वाल में किसान सांस्कृतिक रूप से मान्यता प्राप्त तरीके से विरोध करने में लगे रहे। वे जो कुमाऊँ में विरोध कर रहे थे धीर-धीरे उन्होंने अधिक जुझारू तरीका अपनाया। कुमाऊँ का औपनिवेशिक प्रशासन अपनी प्रजा के जीवन में अपना दख़ल लगातार बढ़ाता जा रहा था। औपनिवेशिक शासकों ने एक युक्तियुक्त समरूप कर-ढाँचे को लागू किया तथा अंततः किसानों को सभी प्रकार की वन्य भूमियों से बाहर कर दिया गया। जब ये नीतियाँ लागू हो रही थीं शासन के इन कृत्यों के प्रति किसानों का प्रतिरोध भी अपेक्षाकृत *ढांडक* की प्रशांत रणनीति से अधिक जुझारू प्रतिरोध में बदल गया।

गुहा के शोध की विशेषता यह दिखाने का प्रयास है कि किस तरह उपनिवेशवाद ने प्राकृतिक पर्यावरण को ध्वस्त किया और इसका परिणाम शासन के प्रति प्रतिरोध में निकला। इस अर्थ में इसमें उपनिवेशवाद से पूर्व के आदर्शवादी और रूमानी अतीत के प्रति एक ललक नज़र आती है जहाँ इस तरह का ध्वंस न्यूनतम था। गुहा ने अपने इस विचार को ऐतिहासिक रूप से प्राकृतिक वैज्ञानिक माधव गाडगिल के साथ लिखी गई नई पुस्तक *दिस फ़िशर्ड लैंड* में बहुत हद तक दुरुस्त किया है जहाँ वे दर्शाते हैं कि किस प्रकार भारत में युद्ध, बीमारी तथा साम्राज्य निर्माण की शक्तियों ने ग्रामीण जीवन तथा जीविका को ध्वस्त और विस्थापित किया। इतिहासकार डेविड आर्नोल्ड के साथ मिलकर लिखी गई एक अन्य रचना *नेचर, कल्चर एंड इंपीरियलिज़्म* में गुहा जीवन-निर्वाह तथा उत्पादन के सीमांत स्वरूपों, जैसे खानाबदोश पशुचारण, पर ध्यान केंद्रित करते हैं जो आबाद कृषि क्षेत्रों से परे था। वह दर्शाते हैं कि इन व्यवस्थाओं में स्वयं को नए रूप में ढालने की क्षमता थी, यदि शासकों द्वारा पर्यावरण-हितैषी

नीतियों का अनुकरण किया जाता था। वस्तुतः उन्होंने उत्पादन तथा जीवन-निर्वाह के तंत्रों के सामुदायिक नियंत्रण की वकालत की है जिसका परिणाम एक प्रकार के पारिस्थितिकीय सामंजस्य के उदय में निकलेगा।

अन्य प्रमुख पर्यावरणीय इतिहासकार महेश रंगराजन का गुहा के शोध के प्रति भिन्न नज़रिया है। उनका मत है कि पर्यावरणीय इतिहास को मात्र उत्पादन व्यवस्था या राजनीतिक-अर्थव्यवस्था के रूप में नहीं पढ़ा जाना चाहिए जैसा कि गुहा ने किया है। उनका तर्क है कि पर्यावरणीय इतिहास के लिए महत्वपूर्ण है उत्पादन तंत्र से स्वायत्त रूप में जीवों, वनस्पतियों और जलवायु, इत्यादि के इतिहास की ओर अग्रसर होना। उनके अनुसार, यह हमें यह समझने में समर्थ बनाएगा कि पारिस्थितिकी पर मानव के पदचिह्न अतीत में बहुत पीछे तक जाते हैं और हमें अतीत के पारिस्थितिकीय भू-दृश्यों में मानवीय हस्तक्षेप से आने वाले परिवर्तनों को देखने में सक्षम बनाते हैं। दूसरे शब्दों में, अतीत में पारिस्थितिकी और पर्यावरण के साथ मानव संक्रिया से बहुत कुछ सीखने को है और पर्यावरण में मानवीय हस्तक्षेप के इतिहास को निरंतरता में देखने की ज़रूरत है, यद्यपि औपनिवेशिक तथा आधुनिक समय में इसके द्वारा होने वाले परिवर्तन तथा हस्तक्षेप का आकार और मात्रा काफ़ी बड़े स्तर के हैं। यह परिकल्पना अधिकांश ऐतिहासिक लेखनों में मज़बूती के साथ नज़र आने वाली साम्यता तथा सुसंगतता के स्वर्ण काल के विचार में सुधार करती है। जैसा कि वह कहते हैं:

> तथापि इस बात पर बल देना महत्वपूर्ण है कि दीर्घकालिक इतिहास पहले से ही और लंबे समय से चले आ रहे मानव-प्रेरित परिवर्तनों के विषय में याद दिलाता है। जैसा कि ऊपर तर्क दिया गया है, जनसांख्यिकीय तथा आर्थिक विस्तार ने साथ में मिलकर श्रम की उपलब्धता में कमी को समाप्त किया लेकिन साथ ही खेती योग्य भूमि की कमी को भी बढ़ावा दिया। यह एक अनूठी बात थी और भारत के लिए एक अभूतपूर्व ऐतिहासिक मोड़ था। इससे पहले भू-परिदृश्य में वन, झाड़ी या दलदली भूमि का प्रयोग अत्यंत कम से लेकर अत्यधिक सघनता लिए हुए था जिसके मध्य में खेती की भूमि के नख़लिस्तान (oases) स्थापित थे। इसके ठीक विपरीत दृश्य पिछली कुछ सदियों, विशेष रूप से पिछली दो सदियों, के युगांतरकारी परिवर्तनों का प्रमुख परिणाम है। किंतु इनमें से प्रत्येक सूत्र – मानव की जनसंख्या में वृद्धि, संपत्ति की मात्रा में वृद्धि, खेती का विस्तार या नगरीकरण का फैलाव – ये सब पहले के उदाहरणों पर ही आधारित हैं। मानव का पारिस्थितिकीय पदचिह्न कोई नई बात नहीं है। नियंत्रण और विजय की नई प्रौद्योगिकियों के कारण यह पुराने तरीके के संबंध से कहीं अधिक विस्तृत हुआ है ताकि विभिन्न प्रकारों से प्रकृति पर वर्चस्व और उसका दोहन किया जा सके या उसकी घेरेबंदी, उसका घरेलूकरण और उसको नए रूप में ढाला जा सके।

रंगराजन उन कई नए प्रकार के स्रोतों का उल्लेख करते हैं जिनका इतिहासकार इस तरह के इतिहास के पुनर्निर्माण में प्रयोग करते हैं। उन्होंने इस ओर संकेत किया है कि किस प्रकार चित्रकला, साहित्य तथा पुरातात्विक स्रोतों को स्थानीय समुदायों के ज्ञान के साथ पर्यावरणीय इतिहास के अतीत को सामने लाने के लिए इन्हें अभिलेखागारों में मौजूद साक्ष्यों के साथ उपयोग में लाया जाता रहा है। दूसरी ओर, गुहा मुख्यतः अभिलेखागारों में व्यवस्थित दस्तावेज़ों को पर्यावरण के इतिहास के अपने विवरण में प्रयुक्त करते हैं। ये दोनों ही विद्वान अंतर-विषयक (interdisciplinary) तथा बहु-विषयक (multidisciplinary) दृष्टिकोण का उपयोग करते हुए विभिन्न सामाजिक विज्ञानों तथा प्राकृतिक विज्ञानों के साथ संवाद करते हुए अपने प्रश्नों और तर्कों को आकार देते हैं।

बोध प्रश्न-1

1) क्या रामचंद्र गुहा की पर्यावरणीय इतिहास पर लिखी गई रचनाएँ अतीत को एक आदर्शवादी और रूमानी अंदाज़ में याद करती हैं? चर्चा कीजिए।

....

....

....

2) पर्यावरणीय इतिहास लेखन के प्रति महेश रंगराजन के दृष्टिकोण पर टिप्पणी कीजिए।

....

....

....

20.3 श्रम-इतिहास (Labour History)

श्रम के इतिहास के क्षेत्र में भी हम नई प्रवृत्तियों को उभरते हुए देख रहे हैं। भारत में श्रम-इतिहास का लेखन 20वीं शताब्दी की शुरुआत में विद्वानों, व्यापार संघों और राष्ट्रवादी आंदोलन से जुड़े कार्यकर्ताओं के एक समूह द्वारा शुरू किया गया था जो भारतीय समाज को आकार दे रहे पूँजीवादी तथा औपनिवेशिक गठबंधन का विरोध करते थे। इस समूह के कई लोग कामगार वर्ग तथा राष्ट्रवादी प्रतिरोधों व व्यापार संघों की गतिविधियों से जुड़े हुए थे। भारत के विकास के इस चरण में पूँजीवादी संबंधों का चरित्र इस समय स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं था और न ही कामगार वर्ग की प्रकृति सुपरिभाषित थी। इसके बजाय यह सामाजिक संबंधों की अपरिपक्वता तथा संक्रमण का चरण था जिसे इस समूह ने समझने तथा विश्लेषित करने की कोशिश की।

श्रमिकों पर शुरुआती लेखन कामगारों के चल रहे संघर्षों की सूचना, भागीदारी करने वाले पर्यवेक्षकों की टिप्पणियों और थोड़ा-बहुत ऐतिहासिक विवरणों का मिलाजुला रूप लिए हुए था। दीवान चमन लाल, जिन्होंने *कुलीः स्टोरी ऑफ़ लेबर एंड कैपिटल इन इंडिया* की रचना की थी, जैसे लेखकों के कार्य की यही प्रकृति थी। व्यापार संघ के नेताओं ने भी इसी प्रकार के विवरण लिखे थे। दूसरी ओर, हमारे पास श्रमिकों की स्थितियों तथा इतिहास के सरकारी औपनिवेशिक प्रतिवेदन उपलब्ध थे जिन्होंने व्यापार संघ के नेताओं के विवरणों में निहित पक्षपातपूर्ण रवैये को प्रस्तुत करने का प्रयास किया था। इस प्रकार की शैली के लेखन में वेरा एंस्टे की रचनाएँ शामिल हैं जिन्होंने भारत में श्रम की सीमित गतिशीलता, पर्याप्त श्रम उपलब्ध होने में मुश्किलों तथा श्रमिकों की निम्न उत्पादकता और थोड़ा-बहुत कामगार वर्गों के जीवन-स्तरों तथा काम की परिस्थितियों के विषय को केंद्र में रखा था। 1930 के दशक में मंदी की शुरुआत के साथ हम कामगार वर्गों के काम के हालातों पर और भी लेखन और प्रतिवेदनों को सामने आते देखते हैं। कामगार वर्गों पर एस. जी. पनादिकर और राधाकमल मुखर्जी जैसे लेखकों की कृतियाँ इस समय सामने आईं। इस चरण में श्रमिकों का इतिहास लेखन उचित ऐतिहासिक अनुसंधान के दृष्टिकोण से परिचित नहीं था। इसके अतिरिक्त, श्रमिक-संबंधी अध्ययन जो सामने आए वे यूरोपीय विचार की श्रेणियों से प्रभावित थे और अक्सर ही दक्षिण एशियाई अर्थव्यवस्था और पूर्व-पूँजीवादी संबंधों की निरंतरता को ध्यान में रखने में असफल रहे थे। यह विशेष रूप से रजनी पाम दत्त जैसे मार्क्सवादी विद्वानों तथा ग्रेट ब्रिटेन के साम्यवादी दल (Communist Party) के विद्वानों के लेखनों में नज़र आता था।

मार्क्सवादी विचार से विश्लेषण की श्रेणियों (categories) को जस-का-तस ग्रहण करने और प्रयोग करने की प्रवृत्ति भारत के श्रम-संबंधी लेखन की भी प्रमुख विशेषता बनी रही। इसका परिणाम अक्सर संगठित श्रम के दायरे के बाहर के कामगारों के काम की परिस्थितियों को नज़रअंदाज़ करने में निकला। जैसा कि प्रोफ़ेसर एस. भट्टाचार्य कहते हैंः

> श्रम-इतिहास के संबंध में रचा गया समस्त साहित्य हमेशा से ही संगठित क्षेत्र में औद्योगिक श्रम-बल पर अत्यधिक केंद्रित रहा है जो अनौपचारिक या असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले कामगारों की बड़ी संख्या – निर्माण, यातायात (जिसमें रेलवे शामिल नहीं है जो कि स्पष्ट रूप से संगठित क्षेत्र का उद्यम है) जैसे पेशों में कार्यरत मजदूर, ऐसे शहरी गरीब जो अनियमित रूप से विभिन्न प्रकार के सेवा-क्षेत्रों में रोज़गार पाते थे, जैसे दुकानों या लघु स्तर के उद्योगों में, और ऐसे प्रवासी मजदूरों को तो ध्यान में रखना ही होगा जो वर्ष के एक भाग में शहरी श्रमबल की परिधि पर मौजूद रहते थे और वर्ष के दूसरे हिस्से में कृषि श्रमिकों के रूप में नियोजित रहते थे – को छोड़ देता है। अपवाद स्वरूप कुछ शोधकर्ताओं, जैसे जान ब्रेमेन, ने अध्ययन के क्षेत्र में इन ऐतिहासिक या समकालीन समस्याओं को संबोधित किया है। लंबे विलम्ब के बाद 1970 के दशक में एक दक्षिण भारतीय शहर का श्रम सर्वेक्षण सामने आया, असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले उन श्रमिकों के आँकड़ों के पूर्ण अभाव की समस्या को ध्यान में रखते हुए जो इस शोधार्थी के अनुमान में कुल श्रमबल का 45 प्रतिशत या उससे भी अधिक थे। इतिहासकारों या अन्य समाजविज्ञानियों का ध्यान संगठित क्षेत्र पर अंशतः इसलिए भी केंद्रित था क्योंकि इसमें विश्लेषण के लिए तैयार आँकड़े उपलब्ध रहते थे। किंतु सम्भवतः इससे भी महत्वपूर्ण – विशेष रूप से जिनका समाजवाद के प्रति झुकाव था – थी कारखानों के कामगारों की एक रूढ़ (stereotypical) छवि जो श्रमिक वर्गों के बीच उनकी भूमिका को उन्नत वर्ग के रूप में पेश करती थी।

इस प्रकार संगठित श्रम पर केंद्रित यह ध्यान उन कामगार जनों की विशाल संख्या को अपने विवरणों से बाहर कर देता था जो औपनिवेशिक तथा बाद के समय में विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के विभिन्न

क्षेत्रों में मौजूद थे। इसने ऐतिहासिक विवरणों में इन कामगार वर्गों को स्थान देने के लिए नई प्रकार की पद्धतियों, उपागमों (paradigms) तथा स्रोतों की खोज हेतु प्रेरित किया। जैसा कि प्रोफ़ेसर सब्यसाची भट्टाचार्य ने संकेत किया है कि संभवतः 'श्रमशील निर्धन' की श्रेणी औपनिवेशिक तथा विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में विभिन्न प्रकार के क्षेत्रों में कार्यरत विभिन्न प्रकार के श्रमिकों को ध्यान में रखने में समर्थ बनाएगी। इस प्रकार की श्रेणी राजनीतिक दलों की युक्तियों से बाहर निकलने हेतु लाभदायक होगी जो केवल कारखानों में मौजूद संगठित श्रमिकों को ही शोध के योग्य श्रमिक मानते हैं और इस प्रकार कामगार जनों के एक बड़े भाग को श्रम-संबंधी अध्ययनों के दायरे में लाएगी जिन्हें अब तक इससे बाहर रखा गया है। यहाँ कानपुर के वस्त्र उद्योगों में कार्यरत श्रमिकों पर चित्रा जोशी का शोध या असम के चाय बाग़ानों में कार्यरत श्रमिकों पर राणा बहल का शोध ऐसे इतिहासकारों के कार्यों के रूप में उद्धृत किया जा सकता है जो कारखानों के श्रमिकों के उपागम से बाहर निकल कर देख रहे थे। इस संदर्भ में वी. वी. गिरी राष्ट्रीय श्रम संस्थान में किए गए श्रम-इतिहास पर शोध ध्यान देने योग्य है जिसने इतिहास लेखन के इस आयाम को और भी आगे बढ़ाया। वह महिलाओं, विदेशों में कार्यरत श्रमिकों तथा प्रवासी श्रमिकों को श्रम-इतिहास के दायरे में लाए। महिला श्रम पर समिता सेन, गुजरात के अस्थायी प्रवासी मजदूरों पर जान ब्रेमेन या गिरमिटिया (indentured) प्रवासी मजदूरों पर आशुतोष कुमार का शोध, अध्ययन की एक नई लहर लेकर आया जो श्रम-इतिहास को नई दिशाओं की ओर ले गया है।

जैसा कि प्रोफ़ेसर एस. बी. उपाध्याय ने इतिहास की प्रवृत्तियों के अपने सर्वेक्षण में कहा हैः

> इस चरण में परंपरागत श्रम-इतिहास की अत्यधिक प्रखर आलोचना हुई है, नए क्षेत्रों की ओर बढ़ते हुए। श्रम-इतिहास में यह नया उभार न केवल भारत के विभिन्न क्षेत्रों में श्रमिकों से संबंधित व्यापक अभिलेखागार-संबंधी सामग्री को सामने लाता है बल्कि नई सैद्धांतिक सीमाओं के पार जाता है। इसने बड़े स्तर पर पुनर्विचार को बढ़ावा दिया जिसने कई पुरानी श्रेणियों (categories), जिनमें सबसे महत्वपूर्ण श्रेणी 'वर्ग' थी, पर प्रश्न खड़े किए हैं। उदाहरण के लिए, एस. भट्टाचार्य ने मूल रूप से यह प्रस्ताव दिया कि विश्लेषणात्मक रूप से भारतीय संदर्भ में श्रमिकों के लिए ''श्रमशील निर्धन'' जैसी ''ग़ैर-वर्गीय'' श्रेणी का उपयोग करना अधिक उचित है। उन्होंने इस पारिभाषिक शब्द को उन 'निर्धनों के व्यापक हिस्से से जोड़ा जिनके जीवन-निर्वाह का मुख्य माध्यम इन विभिन्न रूपों में उनकी श्रम शक्ति का उपयोग है'। अपने बाद के एक लेख में उन्होंने इसकी पुष्टि की कि 'पारिभाषिक शब्द ''श्रमशील निर्धन'' ... का एक कार्यशील युक्ति के रूप में उपयोग दक्षिण के देशों में श्रम पर इतिहासलेखन के ढाँचे को और विस्तार देने के लिए हमारे उद्देश्यों के लिए पर्याप्त है। यह एक उपयोगी संकाल्पनिक आधार है'। यह प्रतीत होता है कि यह पारिभाषिक शब्द क्रमिक रूप से भारतीय श्रम इतिहासकारों द्वारा स्वीकृत किया जा रहा है (उदाहरणार्थ, बहल और लिंडेन)। संस्कृति पर अत्यधिक बल और लिंग (gender) तथा अनौपचारिक श्रम (informality) जैसे शोध के नए क्षेत्रों के उभरने की सम्भावना अन्वेषण के लिए बिल्कुल ही नए क्षेत्र होंगे।

इन नए अध्ययनों का श्रम-इतिहास पर यह दृष्टिकोण 'नीचे से इतिहास (history from below) को देखने वाले इतिहासकारों', इतिहास-वंचित लोगों के इतिहास और सबाल्टर्न अध्ययन के लेखन से बहुत हद तक सहसंबंधित रहा है। इनके विषय में आप पहले ही पढ़ चुके हैं। इन इतिहासकारों ने तंज़ानिया, नाइजीरिया तथा अन्य अफ़्रीकी देशों और विकासशील देशों में इसी प्रकार के ऐतिहासिक लेखन की तुलना से भी बहुत कुछ ग्रहण किया है जो समान रूप से संगठित कारखाना श्रमिकों के उपागम से दूर हट रहे हैं और अपने देशों के श्रमशील निर्धनों पर ध्यान केंद्रित कर रहे हैं।

यद्यपि यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि असंगठित श्रम या अनौपचारिक श्रम पर विश्लेषणात्मक ध्यान का परिणाम औपचारिक-अनौपचारिक श्रम या संगठित-असंगठित श्रम के बीच कठोर विभाजन में नहीं निकला है। नए श्रम-इतिहासों ने हमें इस संबंध में भी जागरूक बनाया है कि श्रम के संसार को परस्पर अंतर-संबंधित रूप में देखना चाहिए। अंततः कारखाने का संगठित श्रमिक अपने ग्रामीण संपर्कों को बनाए रखता है जहाँ वह समय-समय पर अनौपचारिक श्रमिक के रूप में भी कार्य कर सकता है। इस तरह के कठोर अंतर का यह भी अभिप्राय होगा कि श्रम के इतिहास को संपूर्णता में नहीं देखा जा सकेगा। जैसा कि प्रोफ़ेसर एस. बी. उपाध्याय कहते हैंः

> नए श्रम-इतिहास में औपचारिक-अनौपचारिक, औद्योगिक-कृषिक, स्वतंत्र-अस्वतंत्र श्रम का यह द्विभाजन पुरानी बात मान ली गई है जो वास्तविक श्रम रूपों तथा उनके अंतर-संबंधों की प्रक्रिया के वास्तविक शोध को बाधित करता है। इतिहासकारों को यह अनुभव हुआ है कि न केवल इस

प्रकार के अंतर व्यावहारिक रूप से कोई अस्तित्व रखते हैं बल्कि विश्लेषणात्मक रूप से भी समस्यापूर्ण हो सकते हैं। इतिहास के विमर्श में इस तरह की श्रेणियों का निर्माण कुछ विशेष प्रकार की विचार-पद्धतियों का परिणाम है जो उत्तर-प्रबोधन युग में प्रचलित हुई थीं जब इस तरह के कई द्विभाजनों और उनके पदसोपानक्रमों को तय किया गया। इस प्रकार के द्विभाजन में एक प्रकार के हिस्से को दूसरे पर विशेषाधिकार दिया गया था। इस प्रकार ऐसी कार्यशैली या विचारधारा ने विश्लेषण की युक्ति (analytical tool) को भी सही-ग़लत के मूल्य निर्धारण में बदल दिया था। इस प्रकार के अंतर को दूर करके साथ-साथ अस्तित्व में रहने वाले विभिन्न प्रकार के श्रम स्वरूपों, जो एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं, का अध्ययन संभव है। इसके साथ ही उनके स्थानीय रिहायशी क्षेत्रों की निरंतरता के साथ सामान्य रूप से नगरीय संरचना का अध्ययन भी संभव है। इस प्रकार के अनुसंधान हमें उन सामाजिक परिवेशों की ओर ले जाएंगे जहाँ से ये श्रमिक निकले थे और साथ ही उन सामाजिक और सांस्कृतिक स्वरूपों की ओर भी जिन्होंने श्रमिकों की संरचना, व्यवहार और गतिशीलता की प्रकृति को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। यह अविश्वसनीय रूप से अनुसंधान के दायरे को काफ़ी विस्तृत कर देगा।

20.4 स्त्रियों का इतिहास

हाल के वर्षों में भारत में स्त्रियों के इतिहास से संबंधित रचनाएँ बड़ी संख्या में सामने आई हैं। इतिहास लेखन में विश्लेषण की युक्ति के रूप में लैंगिकता का अधिक उचित उपयोग हुआ है। यह इतिहास लेखन के उन प्रधान उपागमों, जो पितृसत्तावादी ढाँचे के प्रभाव से संचालित थे और जो स्त्रियों की भूमिका को कमतर आँकते थे, के विरुद्ध कई संघर्षों के प्रयास का परिणाम है, जैसा कि जानकी नायर ने अपने लेखन में दिखाया है। इतिहास की पुनर्रचना के लिए महिला कार्यकर्ताओं, लेखकों तथा सामाजिक सुधारकों की आत्मकथाओं जैसे नए स्रोतों का अन्वेषण करने का प्रयास हो रहा है। और इसके साथ इस परियोजना के लिए मौखिक इतिहास के उपयोग व विश्लेषण का भी प्रयास हुआ है। प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास के क्षेत्र में इन विद्वानों के द्वारा लैंगिकता के दृष्टिकोण से नए प्रश्न ज्ञात स्रोतों के सम्मुख रखे जा रहे हैं ताकि लैंगिकता के नज़रिए से इतिहास को समझा जा सके। लेकिन, जैसा कि जानकी नायर संकेत करती हैं कि नारीवादी लेखन का मुख्यधारा के इतिहास लेखन पर प्रभाव अपेक्षाकृत समस्यापूर्ण ही रहा है और अभी भी हमें मुख्यधारा के इतिहास में स्त्रियों के दृष्टिकोण से लिखे गए इतिहास के संबंध में किसी विशेष परिवर्तनकारी कार्य का इंतज़ार है।

स्त्रियों के इतिहास के शोध व लेखन की प्रक्रिया इतिहासकारों को स्त्रियों के आंदोलन की कुछ अग्रदूतों, जैसे पंडिता रमाबाई, लक्ष्मीबाई तिलक, ताराबाई शिंदे, तक ले गई हैं। उनकी आत्मकथाओं और संस्मरणों, इत्यादि के माध्यम से उनके लेखन की धारा व शैली **पितृसत्ता** के प्रति उनके प्रतिरोध का प्रदर्शन करती है। इन अध्ययनों ने उमा चक्रवर्ती जैसे स्त्रीवादी इतिहासकारों के कार्य को प्रेरित किया जिन्होंने अपने लेख 'व्हॉटएवर हैपेंड टू द वेदिक दासी' में राष्ट्रवादी इतिहासकारों, जैसे अल्तेकर, के वर्चस्वशाली उपागम को चुनौती दी जिन्होंने स्त्रियों के प्रश्न व मुद्दे को बिखरे हुए साक्ष्यों के आधार पर ही प्राचीन भारत में महिलाओं की गौरवशाली, उच्च स्थिति तक सीमित कर दिया था किंतु इन शोध-सामग्रियों में मौजूद ऐसे साक्ष्यों का परीक्षण नहीं किया जो वैदिक दासी जैसे सामाजिक समूहों की पीड़ा को सामने ला सके।

यह तर्क दिया जा सकता है कि उमा चक्रवर्ती, इत्यादि के अन्वेषण ने काल-विभाजन, सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति, इत्यादि के संबंध में प्रश्नों को उठाया किंतु जिस प्रकार इन विषयों को भारत की मुख्यधारा के इतिहास में देखा जाता है प्रभावशाली ढंग से वे उसमें ऐसा परिवर्तन नहीं कर सके। किंतु इसके फलस्वरूप जिसने एक केंद्रीय स्थान ग्रहण किया वह विश्लेषण की एक युक्ति के रूप में लैंगिकता की श्रेणी है। जैसा कि रोमिला थापर कहती हैं:

> लैंगिक इतिहास ऐतिहासिक विश्लेषण की एक आधारभूत श्रेणी बनता है जब इतिहास व्यक्तित्वों के बखान मात्र होने से आगे बढ़ता है और इतिहासकार उन संस्थाओं और संरचनाओं का विश्लेषण करना शुरू करते हैं जो समाज का निर्माण करती हैं। लैंगिक इतिहास को पितृसत्ता को उदासीन बनाने की आवश्यकता नहीं है। यह स्त्रियों को सत्ता-अधिकार और बहिष्कार के पदानुक्रमों की युक्तियों (instruments) या अभिकर्ताओं (agencies) के रूप में देखने की संभावना को बढ़ा सकता है।

यही वह धारा है जिसमें हम कुमकुम रॉय के शोध को देखते हैं जिन्होंने वैदिक काल में राजतंत्र (monarchy) के उदय का विश्लेषण किया और यह दिखाया कि किस प्रकार अनुष्ठानों द्वारा प्राप्त

वैधता के माध्यम से राजा उत्पादक और पुनरोत्पादक शक्तियों के नियंत्रणकर्ता के रूप में उभरा। इसी के साथ वह यह भी दर्शाती हैं कि गृहस्थ के क्षेत्र में किस प्रकार *यजमान* (अर्थात अनुष्ठानों का आयोजन व समापन करने वाला) घरेलू स्तर पर उत्पादक और पुनरोत्पादक संसाधनों के नियंत्रणकर्ता के रूप में उभरा। इस प्रकार लैंगिकता को पितृसत्तावादी नियंत्रण के विश्लेषण की श्रेणी के रूप में प्रयुक्त करते हुए रॉय लैंगिक इतिहास तथा मुख्यधारा के इतिहास के बीच की दीवार को गिराने में समर्थ हुईं।

इस प्रकार, जैसा कि उमा चक्रवर्ती ने इसे प्रस्तुत किया हैः

> अवधारणा के स्तर पर अन्य जिन विषयों पर शोध किए गए उनमें जाति, वर्ग, पितृसत्ता व राज्य के बीच संबंध और प्राचीन भारत में परिवार की गतिशीलता शामिल हैं। इन अध्ययनों, जो लैंगिकता के अन्य संस्थानों के साथ संबंध के स्तर पर स्त्रियों के इतिहास का अन्वेषण करते हैं, के अतिरिक्त ऐसे अध्ययन भी हैं जो मिथकों और अन्य आख्यानों के बदलते स्वरूपों, वेश्यावृत्ति, मातृत्व, श्रमशील स्त्रियों, संपत्ति-संबंधों, दानदाताओं के रूप में स्त्रियों तथा शासकों के रूप में स्त्रियों का अध्ययन करते हैं। ये विवरण क्रमिक रूप से संकल्पनात्मक आधार को और मज़बूत करने तथा अल्तेकर, जिन्होंने प्राचीन भारत के संदर्भ में स्त्रियों के इतिहास के क्षेत्र पर वर्चस्व बनाए रखा है, के उपागम को ध्वस्त करने में सहायक हुए हैं। एक बड़ी कमी जो अभी भी हमारी समझ को सीमित करती है वह यह समझने का तरीका है कि किस प्रकार लैंगिकता एक सामाजिक व्यवस्था में अन्य संरचनाओं को आकार देती है और किस प्रकार बदले में स्वयं उनके प्रभाव में आकार ग्रहण करती है। **एम.एच.आई.-03, इकाई 17, 'जैंडर इन हिस्ट्री' पृ. 33**

प्राचीन काल के विपरीत मध्य काल के संबंध में लैंगिकता के दृष्टिकोण से अधिक शोध-कार्य सामने नहीं आए हैं। विद्वानों ने इस काल की रचनाओं में लैंगिकता पर ठोस रूप से ध्यान न दिए जाने पर क्षोभ प्रकट किया है। यद्यपि कुछ विश्लेषण, जैसे भक्ति काव्य और मीराबाई की स्थिति पर कुमकुम संगारी का अध्ययन, सुदृढ़ लैंगिक संवेदना प्रकट करते हैं और उन अध्ययनों की ओर संकेत करते हैं जो भविष्य में सामने आएँगे। इस काल के संबंध में भाषा, संपत्ति, विरासत, उत्तराधिकार, शाही परिवार की राजनीति, बहु-विवाह आधारित परिवार, इत्यादि की लैंगिक प्रकृति के संबंध में भी नए अध्ययन सामने आ रहे हैं जो लैंगिकता-केंद्रित इतिहास की ओर ले जा सकते हैं।

आधुनिक भारतीय इतिहास के क्षेत्र में, औपनिवेशिक तथा उत्तर-औपनिवेशिक काल, दोनों, के संबंध में स्त्रियों के इतिहास में कई महत्वपूर्ण योगदान सामने आए हैं। इन विद्वानों को विस्तृत अभिलेखागार-संबंधी उपलब्ध आंकड़ों से सहायता मिली है। इसके साथ ही इन प्रयासों को मौखिक इतिहास के क्षेत्र में किए जा रहे अनुसंधानों से पूर्णता मिली है। परिणामतः हम सुरुचि थापर ब्योकर्ट द्वारा राष्ट्रवादी आंदोलन के दौरान स्त्रियों की आवाज़ों, प्रयासों व संघर्षों को चिह्नित करने के संबंध में किए गए शोध को देखते हैं। कई विद्वान विश्लेषण के साधन के रूप में लैंगिकता का उपयोग करते हुए सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाओं और लैंगिक संबंधों का बारीक परीक्षण करने में समर्थ हुए हैं। इसमें औपनिवेशिक ढाँचों, जैसे कानून, का विश्लेषण अत्यंत महत्व का है। यहाँ औपनिवेशिक काल के दौरान विधवा पुनर्विवाह अधिनियम के अध्ययन ने स्त्रियों की इतिहास की हमारी समझ को पर्याप्त रूप से उन्नत बनाया है। इसी प्रकार बीना अग्रवाल का शोध दर्शाता है कि किस प्रकार भूमि जैसे उत्पादक संसाधनों से कानून स्त्रियों के वंचित करते थे। वह हमें महिलाओं की संकटपूर्ण स्थिति की राजनीतिक-अर्थव्यवस्था की एक परिपक्व समझ उपलब्ध कराती हैं। अध्ययन का एक अन्य दिलचस्प क्षेत्र महिलाओं की शिक्षा रहा है। शुरुआती तौर पर विद्वानों ने स्वयं को औपनिवेशिक भारत में सामाजिक सुधारकों के उदारवादी एजेंडे तक सीमित रखा था। अब चिट्ठियों, जीवनियों और आत्मकथाओं तथा ताराबाई शिंदे जैसे समाज-सुधारकों के संस्मरणों, इत्यादि के वैकल्पिक लेख-संग्रहों की सहायता से शोधकर्ता यह दिखाने में सक्षम हुए हैं कि किस प्रकार यह स्त्री-कार्यकर्ता अपने शैक्षिक और विद्यालयी जीवन में पितृसत्ता के विरुद्ध संघर्षरत रही थीं। संगठित और असंगठित श्रमिक-बल में महिलाओं को दस्तावेज़बद्ध करने के लिए कई लघु-प्रबंध ग्रंथ और अध्ययन भी सामने आए हैं। ये अनुसंधान महिलाओं को मिलने वाले असमान पारिश्रमिक के मुद्दों के साथ ही जाति, समुदाय-आधारित पितृसत्ता द्वारा उनके शोषण पर केंद्रित हैं। कोलार की स्वर्ण खानों में कार्यरत कामगारों पर जानकी नायर का शोध इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है। महत्वपूर्ण रूप से कृषि क्षेत्र में महिलाओं के साथ घरेलू क्षेत्र में कार्यरत महिलाओं पर भी शोध-कार्य सामने आए हैं। इन शोध-कार्यों में विभिन्न प्रकार के संघर्षों में महिलाओं की भूमिका का आकलन किया गया है। इसके साथ ही यह दर्शाया गया है कि किस प्रकार जाति, समुदाय और धार्मिक पितृसत्ता महिलाओं के प्रतिदिन के जीवन में अपना प्रभाव बनाए रखते हैं।

विभाजन (partition) के इतिहास के क्षेत्र में स्त्रियों के इतिहास अपनी उपलब्धि को अधिक बेहतर ढंग से सामने रखते हैं। उमा चक्रवर्ती के निम्नलिखित उद्धरण को देखें:

> विभाजन के इतिहास के क्षेत्र में स्त्रीवादी इतिहासकारों द्वारा आधिकारिक, मुख्यधारात्मक/पुरुषधारात्मक और अभिजात्यवादी इतिहास की अपर्याप्तता को बताने और पूर्वाग्रहों की तीक्ष्ण आलोचना करने के लिए मौखिक इतिहास का प्रयोग विभाजन के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। यहाँ महिलाएँ हाशिए के लोगों (marginalised people) – महिलाओं, बच्चों और दलितों – के नज़रिए से एक वैकल्पिक इतिहास लिखने हेतु अग्रदूत रही हैं। उन्होंने 'अपहृत' महिलाओं की बरामदगी एवं उनके पुनर्वास के विचारों के संदर्भ में राज्य व समुदाय की विचारधारा पर महत्वपूर्ण प्रश्न खड़े किए हैं और इस संबंध में हिंसा के दोहरे आयाम का महिलाओं द्वारा प्रथमतः पुरुषों के हाथों और तदंतर पितृसत्तावादी राज्य के हाथों, जो महिलाओं के अभिकर्तृत्व (agency)[1] से इनकार करता था क्योंकि यह समुदायों के समानांतर अपनी सीमाओं को निश्चित कर रहा था, अनुभव करने का उदाहरण दिया है। यह महत्वपूर्ण है कि स्त्रीवादी विद्वानों ने राष्ट्र के जन्म के समय से ही राष्ट्रवाद की एक व्यवस्थापूर्ण आलोचना प्रस्तुत की है। उनके इस अग्रणी कार्य को पहचान देना तो दूर, राष्ट्रवाद तथा उत्तर-औपनिवेशिक राज्य की उनके द्वारा की गई आलोचना को भी मुख्यधारा के इतिहासकारों द्वारा अभी गंभीरता से लिया जाना शेष है। यह संभवतः मुख्यधारा/पुरुषधारा के इतिहासकारों, इतिहास लेखन पर नियंत्रण बनाए रखने में जिनके निजी हित शामिल हैं, द्वारा अपना अकादमिक अभिक्षेत्र तय करने का परिणाम है। इसके अतिरिक्त मेरी नज़र में यह महिलाओं के द्वारा इस नए क्षेत्र में पदार्पण हेतु मार्गदर्शन को हाशिए पर धकेलने या उसे समाप्त कर देने के कार्यक्रम का हिस्से हैं और इस प्रकार मौलिकता तथा सैद्धांतीकरण, दोनों, पर एकाधिकार का दावा बनाए रखने के प्रयास हैं। विश्वविद्यालयों में उच्च स्तर पर नियुक्तियों के संदर्भ में स्त्रीवादी विद्वानों के विरुद्ध प्रतिक्रिया को देखते हुए, जो अभी जारी है, इस प्रकार से हाशिए (marginalisation) की ओर ढकेले जाने के राजनीतिक आयाम को गंभीरता से ध्यान में रखना होगा।
>
> **एम.एच.आई.-03, इकाई 17, 'जेंडर इन हिस्ट्री', पृ. 36**

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्रियों तथा लैंगिकता के इतिहास में उभर रही नई प्रवृतियाँ न केवल शोध के नए क्षेत्रों को खोल रही हैं बल्कि अकादमियों और इतिहासकारों में गहरी जड़ जमाए पितृसत्तावादी पूर्वाग्रहों को भी संबोधित कर रही हैं। इसका परिणाम भविष्य में जिस तरह से इतिहास को लिखा जाएगा उस पर महत्वपूर्ण परिवर्तनों के रूप में सामने आएगा।

बोध प्रश्न-2

1) सब्यसाची भट्टाचार्य की 'श्रमशील निर्धन' की श्रेणी के विचार की चर्चा कीजिए। यह किस प्रकार श्रम-इतिहास के लेखन को उन्नत बनाती हैं?

....

....

....

2) किस प्रकार लैंगिक इतिहास के विश्लेषण के एक साधन के तौर पर उपयोग भारत में महिलाओं के इतिहास लेखन को आगे ले जाता है? टिप्पणी कीजिए।

....

....

....

3) विभाजन के इतिहास के क्षेत्र में स्त्रियों के इतिहास की दिशा में क्या प्रयास किए गए हैं?

....

....

....

20.5 सारांश

इस इकाई में आपने देखा कि किस प्रकार पर्यावरणीय इतिहास, श्रम-इतिहास तथा स्त्रियों के इतिहास इतिहासकारों के लिए अन्वेषण के नए क्षेत्रों के रूप में उभरे हैं। इन विषय-वस्तुओं के अंतर्गत

[1] व्यक्ति-विशेष की (इस संदर्भ में महिलाएँ) अपनी क्षमता के दोहन के लिए शक्ति एवं संसाधनों की क्षमता

नए प्रश्नों ने इतिहास लेखन को नई दिशा भी प्रदान की है। आपने यह भी देखा कि किस प्रकार नए ऐतिहासिक स्रोतों का इस्तेमाल और अंतर-विषयक दृष्टिकोण तथा 'श्रमशील निर्धन' या लैंगिकता जैसी नई वैचारिक, सैद्धांतिक एवं शोध-संबंधी बिंदुओं को अपनाना इतिहास को नई दिशाओं की ओर अग्रसर करने में सहायक हुआ है। किस प्रकार ये नवीन प्रवृत्तियाँ उभर कर आईं इस पर नज़र डालना आपको इतिहास लेखन की गतिशील प्रकृति को ग्रहण करने में सक्षम बनाएगा।

20.6 शब्दावली

पर्यावरणीय संकट इस वाक्यांश का प्रयोग उन पर्यावरणीय समस्याओं, जिनका हम सामना कर रहे हैं और जिनका हमने अतीत में सामना किया है, को संयुक्त रूप से परिभाषित करने के लिए होता है। मुख्य समकालीन पर्यावरणीय समस्याओं में हरितगृह प्रभाव (greenhouse effect), भूमंडलीय ऊष्मीकरण (global warming) ओज़ोन परत में छिद्र, अम्लीय वर्षा (acid rain) तथा उष्णकटिबंधीय (tropical) वनों का नाश, इत्यादि शामिल हैं। पर्यावरणीय संकट के आयामों में नए उभरते ख़तरे, इनकी वैश्विक प्रकृति, तीव्र रूप से इनका बढ़ना और इन समस्याओं का निरंतरता का स्वरूप ले लेना शामिल हैं। अतीत में पर्यावरणीय संकट मुख्यतः विस्तृत रूप से वनों की कटाई तथा निर्वनीकरण से संबंधित था जिसने वनवासी लोगों को विस्थापित किया तथा कुछ बीमारियों को जन्म दिया

मार्क्सवादी विचार 19वीं शताब्दी के विचारक कार्ल मार्क्स के दार्शनिक और ऐतिहासिक लेखन का संग्रह। यहाँ श्रम-इतिहास के संदर्भ में हम मुख्यतः उनके द्वारा प्रयुक्त 'वर्ग' (class) नामक श्रेणी का एक विश्लेषणात्मक साधन के रूप में प्रयोग की ओर संकेत करते हैं

पितृसत्ता समाज या शासन का एक ऐसा तंत्र जिसमें पुरुषों के पास सत्ता होती है तथा स्त्रियाँ मुख्यतः इससे बहिष्कृत होती है। स्त्रियों का इतिहास, जैसा कि हमने ऊपर चर्चा की है, मुख्यधारा के ऐतिहासिक लेखनों में इस प्रकार के तंत्र के कारण पैदा होने वाले पूर्वाग्रहों के विरुद्ध संघर्षरत रहा है

20.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 20.2

2) देखें भाग 20.2

बोध प्रश्न-2

1) देखें भाग 20.3

2) देखें भाग 20.4

3) देखें भाग 20.4

20.8 संदर्भ ग्रंथ

बहल, राणा पी. और मार्सेल वैन डेर लिंडेन, (2007) *इंडियाज़ लेबरिंग पुअर* (दिल्लीः फ़ाउंडेशन बुक्स).

भट्टाचार्य, सब्यसाची, (2006) 'प्रस्तावना', *इंटरनेशनल रिव्यू ऑफ़ सोशल हिस्ट्री,* संस्करण 51, परिशिष्ट 14: *कुलीज़, कैपिटल एंड कलोनियलिज़्मः स्टडीज़ इन इंडियन लेबर हिस्ट्री* (कैम्ब्रिजः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस).

चक्रवर्ती, उमा, (1989) 'व्हाटेवर हैपेंड टू वैदिक दासी', संगारी, कुमकुम और सुदेश वैद (संपा.) *रिकास्टिंग विमेनः एसेज़ इन इंडियन कोलोनियल हिस्ट्री* (नई दिल्लीः काली फ़ॉर विमन).

गुहा, रामचंद्र, (1990) द *अनक्वाइट वुड्सः इकोलॉजिकल चेंज एंड पैज़ेंट रैसिस्टेंस इन द हिमालयाज़* (बर्कलेः यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस).

गुहा, रामचंद्र, (2000) *इनवायरमेंटलिज़्मः अ ग्लोबल हिस्ट्री* (न्यूयॉर्कः लॉंगमैन).

नायर, जानकी, (1994) 'ऑन द क्वेस्चन ऑफ़ एजेन्सी इन इंडियन फ़ेमिनिस्ट हिस्टॉरीआग्रफ़ी', जेंडर *एंड हिस्ट्री,* भाग 6:1, पृ. 82-100.

लिंडेन, मार्सेल वैन डेर एवं प्रभु पी. महापात्रा, (सं.) (2009) *लेबर मैटर्सः टुवड्र्स ग्लोबल हिस्ट्रीज़ः स्टडीज़ इन ऑनर ऑफ़ सब्यसाची भट्टाचार्य* (नई दिल्लीः तुलिका बुक्स).

नायर, जानकी, (2008) 'द ट्रबल्ड रिलेशनशिप ऑफ़ फैमिनिज़्म एंड हिस्ट्री, *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली,* 43, पृ. 43.

रंगराजन, महेश, (1996) *फ़ैसिंग द फॉरेस्टः कंज़र्वेशन एंड इकोलॉजिकल चेंज इन इंडियाज सेंट्रल प्रोविंसेस, 1860-1914* (दिल्लीः ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

संगारी, कुमकुम व सुदेश वैद, (सं.) (1989) *रिकास्टिंग विमेनः ऐसेज़ इन इंडियन कलोनियल हिस्ट्री* (नई दिल्लीः काली फ़ॉर विमेन).

20.9 शैक्षणिक वीडियो

इमर्जैन्स ऑफ़ विमेंस स्टडीज़ इन इंडिया
https://www.youtube.com/watch?v=mSYP-jn10fw

रिमैम्बरिंग द रोलिंग स्टोन ऑफ़ विमेंस मूवमेंट इन इंडिया
https://www.youtube.com/watch?v=wOk6uaW8AuE

वीना मजूमदार जी.एफ़.पी. इंटरव्यू
https://www.youtube.com/watch?v=E0vcZe8WJ5g

द थ्री वेव्स ऑफ़ इन्वायरन्मेन्टलिज़्म इन इंडिया
https://www.youtube.com/watch?v=vnKprWbTNPc

गाँधी, इन्वायरन्मेन्टलिज़्म एंड द वर्ल्ड टुडे
https://www.youtube.com/watch?v=ptDOZ2mt6xQ

पैजेंट्स, लैंडलेस लेबर, रूरल क्रैडिट एंड इन्डैटेडनैस इन कलोनियल रूल.I
https://www.youtube.com/watch?v=g5U2PICqRGw

रीथिंकिंग इंडियन लेबर हिस्ट्री
https://www.youtube.com/watch?v=PwERkLTXMho